

एम.ए. भाग १

हिन्दी प्रश्नपत्र क्र. १

आधुनिक गद्य

पाठ्य पुस्तकें :

१. नाटक :

१. स्कंदगुप्त – जयशंकर :
२. माधवी - भीष्म साहनी :
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा.लि.
१ बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-२

२. उपन्यास :

१. गोदान-प्रेमचंद
२. जंगल जहाँ शुरू होता है – संजीव
प्रकाशक-राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि.
झी-१७, जगतपुरी, दिल्ली-५१

३. निबंध :

१. मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ- हरिशंकर परसाई
प्रकाशक नेशनल पेपरबैक्स, नई दिल्ली – २
१. वैष्णव की फिसलन, २. साहब महत्वाकांक्षी,
३. निंदारस, ४. बेईमानी की परत, ५. एक लड़की पांच दीवाने,
६. अकाल उत्सव, ७. घायल बसंत, ८. पहला सफेद बाल,
९. जमाखोर की क्रांति, १०. राजनीति का बँटवारा,
११. दो नाक वाले लोक, १२. हनुमान जी अदालत में

४. कहानी :

१. प्रतिनिधि कथामाला- संपादक : मार्कंडेय
(दोपहर का भोजन को छोड़कर शेष सभी कहानियाँ)
प्रकाशक : लोकभारती प्रकाशन
पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग,
महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१.

संदर्भ ग्रंथ :

१. हिंदी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचंद्र शुक्ल
२. हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास - डॉ. बच्चन सिंह
३. हिंदी गद्य का इतिहास - डॉ. रामचंद्र तिवारी
४. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन - डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा
५. प्रसाद का नाट्य साहित्य - डॉ. भानुदेव शुक्ल
६. प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक एवं

- सामाजिक विवेचन - डॉ. जनदीशचंद्र जोशी
७. हिंदी नाटक और रंगमंच : पहचान और परख - डॉ. इंद्रनाथ मदान
८. नाटककार जयशंकर प्रसाद - (सं.) डॉ. सत्येंद्र कुमार तनेजा
९. नाटक और रंग परिकल्पना - डॉ. गिरीश रस्तोगी
१०. रंगमंच का जनतंत्र - हृषीकेश सुलभ
११. रंगमंच के सिद्धांत - महेश आनंद-देवेन्द्र राज अंकुर
१२. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक - डॉ. रामजन्म शर्मा
१३. हिंदी नाटक - डॉ. बच्चन सिंह
१४. भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना - राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर
१५. नाट्य विमर्श - सं.डॉ. जयदेव तनेजा
१६. आधुनिक हिंदी नाटक - डॉ. सुंदर लाल कथूरिया
१७. आधुनिकता और हिंदी उपन्यास - डॉ. इंद्रनाथ मदान
१८. हिंदी उपन्यास का इतिहास - डॉ. गोपाल राय
१९. हिंदी उपन्यास : स्थिति और गति - डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर
२०. प्रेमचंद और उनका युग - डॉ. रामविलास शर्मा
२१. महाकाव्यीय प्रतिभा के धी प्रेमचंद - डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर
२२. प्रेमचंद चिंतन : अपनी जमीन - डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी
२३. उपन्यास की संरचना - डॉ. गोपाल राय
२४. समकालीन हिंदी उपन्यास : समय के साक्षात्कार - डॉ. विजयलक्ष्मी
२५. हिंदी कथा साहित्य का पुनर्पाठ - डॉ. करुणाशंकर उपाध्याय
२६. हिंदी गद्य लेखन में व्यंग्य और विचार - डॉ. सुरेशकांत
२७. हरिशंकर परसाई : व्यंग्य की वैचारिक पृष्ठभूमि - प्रा. राधेमोहन शर्मा
२८. हिंदी निबंधकार - डॉ. जयनाथ नलिन
२९. प्रतिनिधि हिंदी निबंधकार - डॉ. विभुराम मिश्र
३०. आँखिन देखी - डॉ. कमला प्रसाद
३१. हिंदी कहानी : अस्मिता की तलाश - मधुरेश
३२. कहानीकार प्रेमचंद : रचना दृष्टि - डॉ. शिवकुमार मिश्र
३३. नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति - देवीशंकर अवस्थी
३४. समकालीन कहानी : युगबोध का संदर्भ - डॉ. पुष्पपाल सिंह
३५. हिंदी कहानी : प्रक्रिया और पाठ - डॉ. सुरेंद्र चौधरी
३६. कथाकार संजीव - डॉ. गिरीश काशिम
३७. पाखी संजीव विशेषांक - संपादक – अपूर्व जोशी



स्कन्दगुप्त – कथावस्तु तथा रंगमंचीयता

१) सामान्य परिचय :

रचनापद्धति और नाटकीय गुण के विचार से 'प्रसाद' का सर्वोत्तम नाटक स्कंदगुप्त है। इसमें पाश्चात्य एवं भारतीय नाट्यशास्त्र के विहित सिद्धांतों का व्यावहारिक प्रयोग बड़ा अच्छा हुआ है। वस्तु-तत्त्व चरित्रांकन संवाद और देशकाल का चित्रण इसमें बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है। स्वयं लेखक को अपनी इस रचना से बड़ा संतोष था। संपूर्ण नाटक में पाश्चात्य सिद्धांत के अनुसार सक्रियता का प्राधान्य है और भारतीय परंपरा के अनुसार रससिद्धांत का भी सुंदर समन्वय जितना इस कृति में दिखाई पड़ता है इतना और कहीं नहीं। भले ही कुछ लोग काव्यात्मकता के आधिक्य के कारण नाक-भौं सिकोड़े, परंतु भारतीय नाट्यपरंपरा की विशिष्टताओं से अवगत सहृदय समालोचक अवश्य ही उसका यथार्थ रसास्वादन करते हैं।

कथावस्तु :

गुप्त साम्राज्य का अधिपति कुमारगुप्त कुसुमपुर में अपना विलासी जीवन व्यतीत कर रहा है। युवराज स्कंदगुप्त गुप्तकल के उत्तराधिकार नियम की अव्यवस्था के कारण अपने पद एवं दायित्व से कुछ उदासीन और चिंतित रहता है, जिससे साम्राज्य का भविष्य अंधकारपूर्ण दिखाई पड़ता है और इसी समय मालवराज्य पर विदेशियों का आक्रमण होता है और एकाकी वीर स्कंदगुप्त ठीक अवसर पर पहुँच कर राज्य की रक्षा करता है। इसके उपरांत राजधानी में सम्राट का निधन और परिणाम रूप में कौटुंबिक कलह के कारण स्कंदगुप्त मालव का सिंहासन स्वीकार करता है। हूणों के आक्रमण से आर्यावर्त की रक्षा आवश्यक समझकर वह इस अभिषेक के पश्चात सेना का संगठन करके आक्रमणकारियों का सामना करता है। इसी बीच उसे विमाता से उत्पन्न अपने छोटे भाई के कुचक्र को दबाना पड़ता है। युद्ध में साम्राज्य के सेनापति भटार्क की नीचता के कारण हूणों का बढ़ाव नहीं रोका जा सका और स्कंदगुप्त की सेना आपत्ति के गर्त में पड़ जाती है।

कुभा के रणक्षेत्र में स्कंदगुप्त की सेना विच्छिन्न हो जाती है। तदनंतर बड़ी चेष्टा से फिर एक बार सेना का संगठन होता है और गुप्त साम्राज्य के बचे बचाए वीर एकत्र होते हैं। स्कंदगुप्त भी गोपाद्री से बढ़कर सिंधु के समीप आता है। वहाँ दूसरी बार युद्ध होता है और हूण पूर्णरूप से पराजित होते हैं। इस प्रकार स्कंदगुप्त अपने जीवनकाल में एक बार तो आर्यावर्त को हूणों से निरापद बना ही देता है। नाटक के इस कथांश का समर्थन इतिहास करता है। संपूर्ण घटनाचक्र का उतार-चढ़ाव इतिहास सम्मत है।

वस्तुतत्त्व और कार्यवस्थाएँ :

सारी वस्तुस्थिति एवं घटनाचक्र का विभाजन पाँच अंकों में इस प्रकार किया गया है कि आरंभ, प्रयत्न, प्रादुर्भाव कार्यों की विभिन्न अवस्थाओं का स्पष्ट बोध होता चलता है। प्रथम अंक में आरंभ नामक कार्यवस्था का बहुत सुंदर चित्रण है। नाटक का यह अंक परिचयात्मक होता है। इसमें प्रमुख सभी पात्रों की मौलिक विशिष्टताओं का निदर्शन, कुलशीलता का स्पष्ट निर्देश और फलसमस्या का खुला हुआ उल्लेख आवश्यक रहता है। इसीलिए घटनाओं के संघटन का वेगयुक्त होना अत्यंत अपेक्षित रहता है। इस सिद्धांत का निर्वाह प्रस्तुत नाटक में बड़ा सुंदर मिलता है। विभिन्न पात्रों के कुलशील के साथ-साथ प्रधान मनोवृत्तियों का परिचय तो मिलता ही है, इसके अतिरिक्त कार्यव्यापार की अधिकता के कारण आद्यत आकर्षण भी बना रहता है। इसी अंक में नाटक के लक्ष्य-फल अथवा साध्य विषयक का परिचय स्पष्ट रूप से प्राप्त हो जाता है।

गुप्तसाम्राज्य की स्थिति बड़ी गंभीर है। गृहकलह, सम्राट की कामुकता, युवराज की उदासीनता, महाबलाधिकृत वीरसेन की असामयिक मृत्यु और बर्बर हूणों के लगातार आक्रमणों के कारण साम्राज्य एवं आश्रित राष्ट्रमंडलों की रक्षा का प्रश्न जटिल हो गया है। ऐसी स्थिति में यह उग्र समस्या उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति में यह उग्र समस्या उत्पन्न हो जाती है कि किस प्रकार साम्राज्य और आर्यावर्त का सम्मान बचे। अतः कौटुंबिक कलह की शांति और राष्ट्रगौरव की रक्षा ही वह फल है जिसकी प्राप्ति स्कंदगुप्त तथा उसके अन्य सहयोगियों का लक्ष्य है। लेखक ने इस अंक में साध्य विषय की विषमताओं एवं प्राप्ति के साधनों का आभास बड़ी सावधानी से दिया है। अनंत देवी, पुरगुप्त और भटार्क के कुचक्र में पड़कर सम्राट का निधन होता है। साथ ही साम्राज्य के परमहितैषी पृथ्वीसेन, महाप्रतिहर और दंडनायक आत्महत्या कर लेते हैं। कर्तव्योन्मुख स्कंदगुप्त की चेष्टाओं पर इन व्याघातों का बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ता है। वह महत् उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त अग्रसर होकर मालवरक्षा में संक्षुब्ध होता है। लक्ष्यप्राप्ति के साधन का भी यहीं से आरंभ हो जाता है।

अंक की समाप्ति भी बड़े उत्साहवर्धक स्थल पर हुई है। जिस प्रकार नाटकों का आरंभ और अंत आकर्षक तथा प्रभावशाली होना चाहिए उसी प्रकार प्रत्येक अंक की समाप्ति भी ऐसे स्थलों पर आवश्यक है जो लक्ष्यसाधन के सुंदर पड़ाव प्रमाणित हो सकें; जिन अंशों पर पहुँचकर यह स्पष्ट दिखाया जा सके कि उत्कर्ष का यह एक खंड पूरा हुआ। इस स्थल पर आकर जैसे कथानक की खंडसमाप्ति का ज्ञान कराना आवश्यक है उसी प्रकार चरित्रविकास की आंशिक पूर्णता का आभास देना भी। प्रथम अंक के समाप्ति स्थल पर इन दोनों विचारों का अच्छा योग है। कार्य की आरंभावस्था की समाप्ति के साथ-साथ चरित्रविकास और रसपरिपाक के उपक्रम का परिचय प्राप्त हो जाता है। मालव की गौरव प्रतिमा टूटने ही को है, द्वार टूट चुका है, विजयी शत्रुसेनापति का प्रवेश होता है, भीम आकर उसे रोकता है और गिरते-गिरते जयमाला और देवसेना की सहायता से युद्ध करता है। उसे इस प्रकार टूट पड़ते देखकर शक और हूण स्तम्भित होते हैं। फिर भयंकर युद्ध होता है और स्कंदगुप्त शत्रुओं को बन्दी बनाता है। यहाँ भारत की दुर्दम युद्ध-वीरता का आलोकपूर्ण रूप मुखरित हो उठता है।

इसके अतिरिक्त एक विशेष बात और दिखाई पड़ती है। आधिकारिक कथावस्तु की आयुंभावस्था की समाप्ति के साथ ही स्कंदगुप्त के व्यक्तिगत जीवन से सम्बद्ध प्रेम की प्रारंभिक

कथावस्तु का आरम्भ भी यहीं से होता है। जयमाला और देवसेना के अतिरिक्त विजया की नवीन और अपरिचित मूर्ति का दर्शन होने पर स्कंद का उसकी ओर आश्चर्ययुक्त आकर्षण दिखाकर नाटककार ने प्रासंगिक कथानक का सूत्रपात्र किया है। धीरे-धीरे आधिकारिक वस्तु के साथ-साथ इस प्रेमप्रसंग का उत्कर्षाकर्षण दिखाया गया है। प्रेम की यह एकांत चर्या स्कंद के अंतरंग जीवन से सम्बद्ध होकर चली है। कहीं भी वह उसके सामाजिक जीवन पर प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं डालती। अतएव इसका सर्वथा पृथक रूप से ही विचार करना अच्छा होगा; यों तो इसने स्कंद के जीवन की धारा को कभी छोड़ा नहीं है।

द्वितीय अंक में प्रयत्नवस्था है। यह प्रयत्न दो विषयों का है। साध्य के साधन में दी विघ्न हैं। इस अंक में इन्हीं दोनों विघ्नों को हटाने का प्रयत्न हुआ है। प्रथम विघ्न तो गृह-कलह है जो अनन्तदेवी और भटार्क के कुचक्र रूप में दिखाई पड़ता है। प्रथम अंक में इन कुचक्रियों ने सम्राट का जीवन समाप्त किया। अब इस अंक में देव की जीवनलीला पूरी करना चाहते हैं। दूसरा विघ्न बर्बर आक्रमणकारियों का आतंक है, जिससे संपूर्ण देश की रक्षा करनी है। एक ओर इस महान उद्देश्य की पूर्ति का प्रश्न है और दूसरी ओर स्कन्दगुप्त अपना विरागी मन किस-किस ओर लगाए, यह समस्या है। प्रयत्न रूप में वह कुसुमपुर में पहुँचकर ठीक समय पर अपनी माता देवकी की रक्षा करता है। इस प्रकार आंतरिक षडयंत्र का नियंत्रण होता है। उधर अवन्ती में राज्याधिकार स्वीकार कर, सेना और सहयोगियों के द्वारा शक्ति-संचय करता है, जिससे प्रधान लक्ष्य की सिद्धि का योग मिलता है। द्वितीय अंक की समाप्ति प्रभावशाली और आकर्षक है। स्कंदगुप्त का राज्यारोहण और कुचक्रियों का बन्दीरूप में सामने उपस्थित होना इसका अंतिम दृश्य है। इसमें प्रयत्न-पक्ष की पूर्णता स्थापित होती है। इसी प्रयत्न के रूप का दर्शन होने पर भविष्य स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है।

प्रेम की प्रासंगिक कथा भी आगे बढ़ती है। इस अंक में विजया स्वीकार करती है कि युवराज स्कन्द की ओर वह आकर्षित है; परंतु उसके विराग-भाव को देखकर उसकी चंचल वृत्ति विमुख हो जाती है। फलतः वह भटार्क की ओर बढ़ती है। न्यायधिकरण में वह भी भटार्क और अन्य बन्धियों के साथ उपस्थित होती है। स्कंदगुप्त को आश्चर्य और सम्भवतः दुःख होता है। वहाँ विजया स्वीकार करती है कि 'मैंने भटार्क को वरण किया है'। इस पर स्कन्द के विरागी हृदय को चोट पहुँचती है। साथ ही देवसेना स्थिति को स्पष्ट रूप से समझ लेती है। उसे यह, ज्ञात हो जाता है कि वस्तुतः स्कन्द विजया से प्रेम करता है। अतः वह अपना कर्तव्य स्थिर कर लेती है।

तृतीय अंक में भी स्कन्द की जीवन-धारा का क्रम पूर्ववत् ही रहता है। अनन्तदेवी, भटार्क और प्रपंच बुद्धि का कुचक्र उसी प्रकार चल रहा है और स्कन्दगुप्त को उसी प्रकार उससे युद्ध करना पड़ता है। महादेवी देवकी की ओर से असफल होकर ये लोग देवसेना को अपना लक्ष्य बनाते हैं। उसी कुचक्र में विजया भी सम्मिलित हो जाती है। शमशाम में ठीक अवसर पर पहुँचकर मातृगुप्त और स्कन्द देव-सेना की रक्षा करते हैं। इसके पश्चात् बन्धुवर्मा को महाबलाधिकृत बनाकर सम्मिलित सेना के साथ स्कन्द पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत की गांधार-घाटी में युद्ध करने बढ़ता है। उसकी सेना में एक अंश मागधी सेना का भी है जिसका नायक भटार्क है। भटार्क रणस्थल में आने के पूर्व हूण दूत से मिलकर उसके अनुकूल कार्य करने के लिए बचनबद्ध हो जाता है। उस पर बन्धुवर्मा को सन्देह होता है और वह समयानुसार स्कन्द को सावधान भी करता है, परंतु स्कंद अपनी स्वाभाविक उदारता और नीति के अनुसार भटार्क की

केवल सचेत भर कर देता है। उस महत्त्वपूर्ण अवसर पर भटार्क अपना सच्चा रूप प्रकट करता है। जो दायित्व उसे सौंपा गया या उसके ठीक विरुद्ध आचरण करके स्कन्द के जीवन को अंधकार के गर्त में डाल देता है जिस समय स्कन्द की सेना कुभा पार कर रही थी उसी समय वह बाँध काट देता है, जिससे स्कन्द और उसके साथ ही सेना बाढ़ में वह जाती है। भटार्क के कारण फल की प्रात्याशा की स्थापना नहीं हो पाती।

कार्य की भारतीय प्रात्यावस्था की स्थापना नियमतः तृतीय अंक की समाप्ति के साथ-साथ होनी चाहिए; परन्तु उस अंक के अंत में प्रात्याशा का रूप उपस्थित न होकर पाश्चात्य चरमसीमा का रूप उपस्थित न होकर पाश्चात्य चरमसीमा का रूप स्फुटित और स्पष्ट होता है। प्रधान पात्र के लिए आशंका, विरोध और कष्ट की यहाँ चरमसीमा दिखाई पड़ती है। हाँ, फलप्राप्ति की आशा एवं सम्भावना अन्य प्रकार से ध्वनित है। स्कन्दगुप्त का चरित्रबल इन आपदाओं से हार नहीं मान सकता, यह विश्वास, प्राप्ति की आशा का रूप है। स्कन्दगुप्त का चरित्रबल इन आपदाओं से हार नहीं मान सकता, यह विश्वास प्राप्ति की आशा का रूप है। दूसरी बार वह दुगुने उत्साह से आक्रमण करेगा और आशा की जा सकती है कि उस फल की सिद्धि होगी। वह भटार्क जैसे संदिग्ध सैनिकों पर पुनः विश्वास करने की भूल कदापि न करेगा यहाँ यदि ऐसा विश्वास न किया जाय तो इस अंक के अंत में आकर फलप्राप्ति की आशा तो नहीं, हाँ उसके दुखों और समस्याओं की चरमसीमा का बोध अवश्यक होता है।

इसके अतिरिक्त अंतःसलिला पयस्विनी के समान प्रेम का प्रसंग और अधिक रंग पकड़ता है। अपना राज्य स्कंदगुप्त को अर्पण करके देवसेना ने उसे अपने उपकारों के बोझ से दबा दिया है और इस प्रकार वह विवश होकर अवश्य ही प्रतिदान के रूप में अपना प्रेम देवसेना को देगा-ऐसा विचार कर विजया देवसेना को अपना शत्रु समझ बैठती है। फलतः वह स्कंदगुप्त और देवसेना के विरुद्ध और भटार्क तथा अनंतदेवी के अनुकूल वेग से दौड़ पड़ती है। उसके इस कार्य-व्यापार का परिणाम यह होता है कि स्कंदगुप्त की प्रेम की मधुर भावनाएँ उसकी ओर से आहत होकर एकमात्र अधिकारिणी देवसेना की ओर बढ़ती हैं। स्थिति भी इसके अनुकूल आ ही जाती है। देवसेना के बध किए जाने की सूचना स्कंद को ज्ञात हो जाती है और वह ठीक अवसर पर पहुँचकर उसे बचाता है। वह भयभीत दशा में स्कंद का आलिंगन करती है। वही स्कंदगुप्त को व्यक्त रूप में यह मालूम होता है कि देवसेना उससे प्रेम करती है। इस अवसर पर मृत्युकाल समीप समझकर ही वह अपना अंतसू खोलती है, अन्यथा आगे चलकर वह कभी स्कंद से प्रेम की चर्चा करके उसका अपमान नहीं होने देती। प्रेम-ज्वर पर कठोर नियंत्रण करती रहती है। दुसरी ओर विजया भटार्क के साथ रहकर युवराज पुरगुप्त का मतबहलाव करती दिखाई देती है।

भारतीय पद्धति से चौथे अंक में नियताप्ति होनी चाहिए। फल की प्राप्ति नियम-निश्चित हो जानी चाहिए, परंतु ऐसा स्पष्ट दिखाई नहीं देता। उसका प्रच्छन्न प्रतिपादन अवश्य है, परंतु जितनी सुंदर पाश्चात्य निगति दिखाई पड़ती है उतनी भारतीय नियताप्ति नहीं। स्कंदगुप्त का एकाकी और निःसहाय रूप में बचे रहना, संपूर्ण धर्म-संधों का विरुद्ध हो जाना, उसकी माता देवकी की मृत्यु, समस्त साधनों का विश्रुंखल होना और सागरिक शक्ति का टूट जाना निगति का रूप दिखाता है। कुछ स्थितियाँ ऐसी अवश्य आई हैं जिनमें हम यह समझ ले सकते हैं कि अंत अनुकूल होगा। इस अंक का आरंभ ही विरोधियों में फूट की कथा कहता है। भटार्क को लेकर, विजया और अनंतदेवी में, विरोध होता है। शर्वनाग की बातचीत से विजया और भी

प्रभावित होती है और देश के कल्याण में निरत होना चाहती है। उधर अपनी माता की फटकार और राजमाता देवकी की मृत्यु से भटार्क की आँखें कुछ खुलती हैं। वह निश्चय करता है कि अब वह संघर्ष से अलग रहेगा। इस प्रकार विरोधी दल की फूट, भटार्क की मनोवृत्ति में मंगल का प्रवेश और स्कंदगुप्त आदि कुछ वीरों का बचे रहना ही नियताप्त का सूचक है। इसी आधार पर उज्ज्वल भविष्य की आशा निश्चित होती है।

प्रेम के क्षेत्र में भी परिवर्तन है। विजय या पुनः एक बार स्कंद की ओर बढ़ती है। उसके विचारों में परिवर्तन होता है, परंतु उस समय तक स्कंदगुप्त उसकी ओर से असफल होकर देवसेना के प्रति अपना दायित्व स्थिर कर लेता है। हूण से त्रस्त होकर जिस समय देवसेना सहायता की पुकार लगाती है। उस समय स्कंद पूरी तत्परता से अपने सच्चे मित्रों बंधुवर्मा की धरोहर को बचाने के लिए दौड़ता है। नाना प्रकार के दायित्वपूर्ण व्यापारों से निरत रहने से स्कंद के ऊपर अभी तक जो एक प्रकार की आत्मविस्मृति छाई हुई थी, इस घटना से वह भाग खड़ी होती है और उसमें विजया के प्रति विरक्ति और देवसेना के प्रति दायित्वपूर्ण अनुरक्ति की स्थापना की जाती है।

नाटक का पंचम अंक सुंदर और प्रभावशाली है। उसमें समष्टि प्रभाव अथवा प्रभावान्विति की स्थापना बड़ी महत्त्वपूर्ण है। यदि भटार्क की देश रत्ना के व्रत की सूचना और साम्राज्य के बिखरे हुए सब रत्नों को एकत्र करनेवाले पर्णदत्त का संकल्प चतुर्थ अंक में आ जाता तो नियताप्ति का सुंदर रूप खड़ा हो गया होता; परंतु नाटककार इन्हीं साधनों के द्वारा फलप्राप्ति करना चाहता है। अतएव उसने इनको निर्वहण संधि में रखा है। विजया का रत्नागार लेकर भटार्क पवित्र उत्साह से नवीन सेना का संकलन प्रारम्भ करता है। अंत में आकर विरोधियों का एक गढ़ और टूटता है। प्रख्यात कीर्ति एवं धातुसेन के प्रयत्न से अनंतदेवी और धर्म-संधों में भी अनबन हो जाती है। इस प्रकार विरोधी दल के सभी अवयव दुर्बल हो जाते हैं। उधर पर्णदल की साधना से साम्राज्य के सभी बचे रत्न एकत्र होकर स्कंदगुप्त की छत्रछाया में एक बार पुनः आर्यावर्त की रक्षा का उद्योग करते हैं। इस बार का उद्योग सफल होता है। खिंगिल बंदी किया जाता है; परंतु सिंधु के इस ओर के पवित्र देश में न आने का पणबंध लेकर स्कंदगुप्त उसे मुक्त कर लेता है। यह तो आर्यावर्त और उसके गौरव की रक्षा हुई। दूसरी ओर युद्धक्षेत्र ही में पुरगुप्त को रक्त का टीका लगाकर वह गृह कलह और कौटुंबिक अशांति को भी पूर्ण रूप से मिटा देता है। रस-निष्पात्ति का यह भव्य रूप अंत में बड़ा ही प्रभावोत्पादक है।

फलप्राप्ति का यह सामाजिक रूप स्कंदगुप्त के व्यक्तिगत जीवन से सर्वथा पृथक है वह विरागी राष्ट्रोद्धारक अंत में अपने सामाजिक अनुष्ठान में पूर्ण सफल होकर भी व्यक्तिगत रूप में सर्वथा दरिद्र ही रह जाता है। विजया से तो यदि स्वर्ग भी मिले तो वह लेने को तैयार नहीं और देवसेना प्रतिदान में उसका प्रेम स्वीकार कर मालकराज के सम्मान को गिराना नहीं चाहती। स्कंदगुप्त पर अपने जीवन को अर्पित करके भी वह उसके प्राप्य में भाग नहीं लेना चाहती। ऐसी अवस्था में 'हतभाग्य स्कंदगुप्त अकेला' ही रह जाता है। मानव जीवन का यह कठोर वैषम्य उसके व्यक्तिगत जीवन का मूल भाव है।

स्कन्दगुप्त और रंगमंच

‘स्कन्दगुप्त’ की आधिकारिक कथा स्कन्दगुप्त की है और प्रासंगिक कथाओं में बन्धुवर्मा की कथा प्रमुख है। ‘स्कन्दगुप्त’ की कथावस्तु का कार्य-क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है। कथावस्तु से सम्बन्धित पात्रों की संख्या इतनी अधिक है कि कथावस्तु का समस्त कार्य-व्यापार सुसम्बद्ध तथा कार्यकारण श्रृंखला में कलात्मक रूप से ग्रंथित होते हुए भी नाटक के प्रेक्षक के लिए बौद्धिक व्यायाम का विषय बन जाता है। स्कन्दगुप्त के असाधारण व्यक्तित्व के कारण घटनाएँ भी असाधारण रूप लेती चलती हैं। परन्तु कथावस्तु में उन्हें जिस रूप में नियोजित किया गया है वह प्रेक्षकों को नाटककार की विचार-पद्धति के अनुरूप सोचने के लिए बाध्य कर देता है।

नाटक में मंच पर प्रारम्भ में स्कन्दगुप्त की बैराग्यभावना से पूर्ण उक्तियाँ तथा पर्जदत की चेतावनी सामाजिकों को भविष्य का कुछ आभास दे देती है। उसके पश्चात् अनन्त देवी तथा भटार्क की लीला बड़े स्वाभाविक रूप में चित्रित की गयी है और देवकी की हत्या के प्रयत्न तथा स्कन्दगुप्त द्वारा उसकी रक्षा के प्रसंग प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किये गये हैं। स्कन्द की वीरता के परिणामस्वरूप ही नाटक में श्रृंगार की सामग्री भी प्रस्तुत हो जाती है। (मंच) पर नाटक के प्रेक्षक मालव के अवन्ती दुर्ग की रक्षा करते हुए स्कन्दगुप्त की असाधारण वीरता से देवसेना तथा विजया को अभिभूत होते हुए देखते हैं तो इस घटना में उन्हें भावी प्रणय-संघर्ष का आभास मिल जाता है और इस प्रकार मालव की कथा वीर तथा श्रृंगार, दोनों के माध्यम से आधिकारिक कथा से जुड़ जाती है। स्कन्द की असाधारण वीरता तथा बन्धुवर्मा की कृतज्ञता एवं राष्ट्रभक्ति की भावना के सम्मिलित प्रभाव के फलस्वरूप मालव में स्कन्दगुप्त का अभिषेक भी एक स्वाभाविक घटना बन जाती है।

स्कन्दगुप्त और बन्धुवर्मा का हूणों के आक्रमण का सामना करने जाना तथा बन्धुवर्मा की मृत्यु एवं कुम्भ के बाँध की घटना आदि समस्त कार्यव्यापार कार्य-कारण श्रृंखला में आबद्ध है। इसके पश्चात् स्कन्द का अन्य साथियों के साथ मिलकर सेना एकत्रित करके हूणों को पराजित करना उसके पराक्रम के अनुकूल ही है और अन्त में पुरगुप्त को गुप्त-साम्राज्य का युवराज घोषित करना उसकी वैराग्यपूर्ण प्रकृति तथा परिस्थितियों की प्रताड़ना के फलस्वरूप उत्पन्न विरक्ति का स्वाभाविक परिणाम लगता है। स्कन्दगुप्त के देवसेना तथा विजया के साथ के प्रणय-प्रसंगों का नियोजन भी रंगमंच की दृष्टि से पूर्ण स्वाभाविक है। मंच पर इन प्रसंगों के जो दृश्य प्रस्तुत किये जाते हैं वे प्रेक्षकों को परिस्थितियों से सम्यक रूप से परिचित कर देते हैं। इन प्रेम-प्रसंगों का नियोजन पर्याप्त तर्कसंगत तथा भावुकतापूर्ण है।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि मंचन की दृष्टि से ‘स्कन्दगुप्त’ की कथावस्तु पर्याप्त सुगठित तथा सुनियोजित है उसमें दोष केवल उसकी विशालकायता है। मंच पर प्रस्तुत करने के लिए नाटक के अनेक प्रासंगिक दृश्य निकाल देने पड़ेंगे। ऐसे दृश्यों में से चतुर्थ अंक के दृश्य ३, ४ तथा ५ विशेष उल्लेखनीय हैं। ये दृश्य वस्तु-नियोजन की दृष्टि से इस नाटक के अनावश्यक तथा प्रश्रिप्त अंश से लगते हैं।

मंचन की दृष्टि से स्कन्दगुप्त नाटक के अभिनय पक्ष का विवेचन –

‘स्कन्दगुप्त’ १४० पृष्ठ का नाटक है। इसके पाँच अंक क्रमशः ७, ७, ६, ७ तथा ६ दृश्यों में विभक्त है। अर्थात् पूरे नाटक में पाँच अंक और ३३ दृश्य हैं। ‘स्कन्दगुप्त’ को रंगमंच पर प्रस्तुत करने के लिए अनुमानित अपेक्षित समय इस प्रकार होगा – अभिनय तथा कार्यव्यापार के लिए लगभग ५ घंटे, १४ गीतों के लिए एक घंटा तथा दृश्य – परिवर्तन के लिए २ घंटे १५ मिनट। इस प्रकार पूरे नाटक के अभिनय में लगभग सवा ८ घंटे लगेंगे।

दृश्य – विन्यास - :

‘स्कन्दगुप्त’ नाटक के लिए इससे पूर्ववर्ती सभी नाटकों से अधिक दृश्य-विन्यास अपेक्षित होंगे, साथ ही इस नाटक के लिए प्रशस्त सज्जावाले दृश्य-विन्यास भी अपेक्षाकृत अधिक संख्या में लगेंगे।

नाटक में ‘अवन्ती-दुर्ग’, ‘अनन्तदेवी का प्रकोष्ठ’, ‘मालव में श्रिप्रातट’, ‘कनिष्क स्तूप’ पथ का दृश्य ऐसे दृश्य हैं जो दो, तीन या उससे अधिक बार आते हैं। अस्तु, इस प्रकार के इन १५ दृश्यों के लिए ९ दृश्य-विन्यास अपेक्षित होंगे और शेष (३३-१५) १८ अन्य दृश्य-विन्यास आवश्यक होंगे, अर्थात् ३३ के लिए २७ दृश्य-विन्यास अपेक्षित होंगे।

‘स्कन्दगुप्त’ के दृश्यों का अनुक्रम भी इस प्रकार रखा गया है कि रंगमंच पर उन्हें बिना बीच में अन्तराल दिये प्रस्तुत करना बहुत कष्ट-साध्य होगा। उदाहरणार्थ, नाटक के पहले अंक का पहला दृश्य स्कन्धावार का है। यह दृश्य मंच का पर्याप्त बड़ा भाग घेर लेगा परन्तु इसके बाद ही राजमन्दिर के परिषद का दृश्य है। उसके लिए पूरे मंच की आवश्यकता होगी। फलतः दूसरे दृश्य को प्रस्तुत करने में पर्याप्त समय लग जाएगा।

इसी प्रकार चौथे अंक में दृश्य १, २ तथा ३ क्रमशः ‘अनन्तदेवी का प्रकोष्ठ’, ‘भटार्क का शिबिर’ तथा ‘न्यायाधिकरण’ है। इन्हें लगातार, बिना अन्तराल के प्रस्तुत करना कठिन होगा। अधिक विस्तार न देकर सार रूप में यही कहना पर्याप्त होगा कि ‘स्कन्दगुप्त’ को यथावत मंच पर प्रस्तुत करना एक दुष्कर कार्य होगा। सफलतापूर्वक मंचस्थ करने के लिए इसकी दृश्य-योजना तथा दृश्यों के अनुक्रम में पर्याप्त परिवर्तन करना पड़ेगा।

असंभव दृश्य :

कुंभा के बाँध का टूटना तथा सैनिकों का बहते हुए दिखाई देना, रंगमंच की दृष्टि से असंभव दृश्य है। यह दृश्य या तो फिल्म के प्रोजेक्टर की मदद से दिखाना पड़ेगा या इसे सूच्य बना देना पड़ेगा।

आकस्मिक संयोग इस नाटक में भी अनेक हैं –

- १) ज्यों ही अवन्ती – दुर्ग का द्वार टूटता है त्योंही अचानक स्कन्दगुप्त पहुँच जाता है।
- २) शर्वनाग ज्यों ही रामा पर ‘प्रहार करने को उद्यत होता है, त्यों ही किवाड़ तोड़कर स्कन्द भीतर घुस आता है।’

- ३) जैसे ही प्रपंच-बुद्धि देवसेना को मारने के लिए खड्ग उठाता है कि मातृगुप्त अचानक पीछे से आकर उसका हाथ पकड़ लेता है।
- ४) जहाँ पर विजया को गाड़ने के लिए गढ़ा खोदा जाता है वही पर विजया का रत्नभंडार निकलता है।

चमत्कार पूर्ण देवी घटना का उदाहरण भी 'स्कन्दगुप्त' में प्रपंचबुद्धि की उल्कापात की भविष्यवाणी के सत्य होने के प्रसंग विद्यमान हैं।

'स्कन्दगुप्त' के संवाद वास्तव में जितने साहित्यिक दृष्टि से भव्य तथा मनोहर है, रंगमंच के लिए उतने ही अनुपयुक्त है। इस नाटक के स्वगतों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। स्वयं एकान्त में पढ़कर उनकी दार्शनिक तथा साहित्यिक भाषा का आनन्द लेना एक बात है और उन्हें याद करके मंच पर स्वगत के रूप में बोल ले जाना बिलकुल दूसरी। पहला कार्य जितना आनन्दप्रद होगा दूसरा उतना ही दुःसाध्य तथा कष्टप्रद।

गीत – स्कन्दगुप्त में १४ गीत हैं। इनमें से अधिकतर गीत मनोरम तथा प्रसंगानुकूल हैं। कुछ गीत तो हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठतम गीतों में से हैं परन्तु नाटक को मंच पर प्रस्तुत करने के लिए इनमें से कम से कम दस गीतों को निकाल देना पड़ेगा, अन्यथा नाटक में लगभग एक घंटा इन साहित्यिक गीतों के लिए सुरक्षित रखना पड़ेगा।

मंचन की दृष्टि से संक्षेप में यही कहना उचित होगा कि 'स्कन्दगुप्त' को यथावत मंचस्थ नहीं किया जा सकता। 'पाठ्य-नाटक' के रूप में ही इसकी असाधारण महत्ता का आस्वादन किया जा सकता है।

संधियाँ :

उक्त बीज अर्थप्रकृति की उत्पत्ति के साथ ही स्कन्दगुप्त मालवदूत को आश्वासन देता है- "दूत! केवल संधि-नियम ही से हम बाधित नहीं हैं, किंतु शरणागत – रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है। तुम विश्राम करो। सेनापति पर्णदत्त पुष्यमित्रों की गति, समस्त सेना लेकर रोकेंगे। अकेले स्कन्दगुप्त मालव की रक्षा करने के लिए सन्नद्ध है। जाओ निर्भय निद्रा का सुख लो। स्कन्दगुप्त के जीते, मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा।" इस पर पर्णदत्त कहता है, "युवराज आज यह वृद्ध हृदय से प्रसन्न हुआ। कोई चिंता नहीं; गुप्तसाम्राज्य की लक्ष्मी प्रसन्न होगी।" यही से मुख संधि का आरंभ मानना चाहिए। 'प्रारंभ' नामक अवस्था के साथ बीज अर्थप्रकृति की उत्पत्ति इस स्थल पर दिखाई पड़ती है। यहीं निश्चय का बोध होता है कि आगे क्या क्रम चलेगा। 'मुखं बीजसमुत्पत्तिनार्थरससंभवा' के अनुसार आगे कार्य-व्यापारों के द्वारा विविध भावों की भी उत्पत्ति होती चलती है, इसका विस्तार प्रथम अंक के समाप्ति स्थल तक चलता है। जहाँ हूण परास्त होते हैं, वहाँ से प्रतिमुख संधि का आरंभ हो जाती है, क्योंकि फिर तो मुख संधि में दिखलाए हुए बीज का लक्ष्य-अलक्ष्य रूप में उद्भेद प्रारंभ हो जाता है। हूणों की पराजय और राज्याभिषेक प्रसंग में, फल प्राप्ति विषयक बातें हैं और तुरंत ही फिर प्रपंच बुद्धि के प्रपंच में पड़े हुए सर्वनाग और भटार्क की कुचक्र-रचना से फलावरोध दिखाई पड़ लगता है। महादेवी की हत्या की योजना और फिर उसका बचना, राज्याभिषेक में जयमाला का विरोध करना और फिर अनुकूल ही जान इत्यादि बातें बीज की लक्ष्यालक्ष्य उद्भेदक ही तो हैं। इस स्थिति का विस्तार

वहाँ तक चलता है जहाँ स्कंदगुप्त देवसेना को प्रपंचबुद्धि के चंगुल से छुड़ता है। मगध में अनंतदेवी, पुरगुप्त, विजया और भटार्क का जो संमेलन होता है उसमें गर्भ संधि का आरंभ हो जाता है, क्योंकि फिर तो क्षण-क्षण पर बीज अथवा फल का आविर्भाव और तिरोभाव होने लगता है और कुतूहल की तीव्रता बढ़ उठती है। अनंत देवी और भटार्क के कारण फलप्राप्ति में आशंका उत्पन्न होती है और स्कंदगुप्त, के प्रयत्नों को देखकर आशा का उदय होने लगता है। यह द्विधा की अवस्था चतुर्थ अंक के द्वितीय दृश्य तक चली है, अतएव वहीं गर्भ संधि की समाप्ति माननी चाहिए। इसी अंक में आगे चलकर विचित्र अवस्था में स्कंदगुप्त का जो प्रवेश होता है, वह विमर्श संधि का स्थल है। यह विमर्श विपत्तिमूलक है। विपत्ति में पड़ा हुआ प्राणी जिस प्रकार अनुभव करता है उसी रूप में स्कंदगुप्त दिखाई पड़ता है। कर्तव्य विस्मृत, भविष्य अंधकारपूर्ण, लक्ष्यहीन दौड़ और अनंत सागर का संतरण है, अवलंब दो नाथ! विपत्ति में पड़े हुए ही यह विपत्रावस्था कुछ दूर तक चलती है। इस बीच में विपक्षी कुछ दुर्बल होने लगते हैं। उनमें पश्चात्ताप का उदय होता है। इस कारण जब भटार्क भविष्य में सुधार के लिए कृतनिश्चय होकर सद्भाव से स्कंदगुप्त के पास आता है तब इस विपत्तिकाल की समाप्ति होती है। वहाँ से आगे तो फिर निर्वहण संधि आरंभ हो जाती है, क्योंकि धीरे-धीरे विरोधी वर्ग के लोग या तो मर जाते हैं या अधिकारी नायक के अनुकूल होने लगते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर फलप्राप्ति समीप आने लगती है। विजया आत्महत्या कर लेती है। भटार्क स्कंदगुप्त के अनुकूल हो जाता है, अनंतदेवी और पुरगुप्त बंदी कर लिए जाते हैं। अंत में खिंगिल की भी पराजय होती है।



स्कंदगुप्त में चरित्र-योजना

चरित्रांकन की पद्धति के विचार से स्कंदगुप्त नाटक में कोई नवीनता नहीं दिखाई पड़ती। नाटककार ने मनुष्य की तीन विभिन्न स्थितियों और वृत्तियों का जैसा स्वरूप अपने अन्य रूपकों में उपस्थित किया है उसी प्रकार इसमें भी है। इस व्यावहारिक संसार में हमें शुद्ध मानव-अपने अच्छे और बुरे रूपों से युक्त, राक्षस-अशुद्ध और असत् मूर्ति और देवता आदर्श के सच्चे प्रतिनिधि, दिखाई पड़ते हैं। उसी प्रकार उनमें सत्-असत् मनोवृत्तियाँ भी काम किया करती हैं; परंतु राक्षस कभी प्रबल पड़ता नहीं दिखाया गया है। इस विषय में 'प्रसाद' भारत की शुद्ध आध्यात्मिकता का ही प्रतिपादन करते हैं। मंगल विकृत होकर कल्याण का साधन नहीं बन सकता। इसीलिए प्रसाद कुछ पात्रों को दानववृत्ति के कारण दुष्ट मार्ग में पड़ते दिखाकर भी भय, प्रेम, आत्मशोधन, उपदेश इत्यादि के कारण उनमें परिवर्तन दिखाते हैं। भटार्क, अनंतदेवी, प्रपंचबुद्धि और विजयादि की सृष्टि और परिवर्तन इसी आधार पर है। पात्रों की बहुलता में नाटककार ने जिन यथार्थ मनुष्यों के रूप खड़े किए हैं वे प्रकृति और विशेष अनुरंजनकारी हैं, जैसे- रविनाग और जयमाला। इनके अतिरिक्त जो देवता हैं वे प्रिय, मनोहर, पूज्य, आदर्शरूप तो हैं परंतु साथ ही हमसे बहुत दूर नहीं हैं। इस प्रकार का देवत्व आकस्मिक नहीं नैमित्तिक है, इसलिए अयथार्थ और बुद्धि के प्रतिकूल नहीं ज्ञात होता। स्कंदगुप्त, देवसेना, पर्णदल और बंधुवर्मा उदात्त चरित्र के आदर्श चित्र हैं, पर जीवन द्वंद्वों के अंतराल से चल रहे हैं। अतएव उनमें विशेष अलौकिकता पुंजीभूत नहीं दिखाई पड़ रही है।

'प्रसाद' के नाटक प्रायः उद्देश्यपूर्ण हैं। अतएव इनके पात्रों के संमुख एक लक्ष्य रहता है। इष्ट-साधन में संलग्न पात्रों का एक दल होता है। इष्ट-साधन में संलग्न पात्रों का एक दल होता है। इन दलवालों की भी तर्गत कुछ विशिष्टता होती है, जैसे सत्साहस, प्रेम, गांभीर्य। विरोधी दल अपनी दुर्बलताओं के कारण सर्वप्रिय लक्ष्य का विरोध करता है। विरुद्ध लर्गवाले अधिकांश संकुचित स्वार्थ और दंभ से प्रेरित होकर कुचक्र की रचना करते हैं। स्कंदगुप्त नाटक में भी दो विभाग स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। स्कंद, पर्णदत्त, बंधुवर्मा, देवसेना प्रभृति पात्र इष्ट-साधक हैं और अनंतदेवी, भटार्क, पुरगुप्त और प्रपंचबुद्धि इत्यादि इष्ट के विरोधी।

स्कंदगुप्त :

इस नाटक का नायक स्कंदगुप्त है। यह सच्चा कर्मवीर और उदात्त चरित्र का व्यक्ति है। उसमें कुल-शील की उत्तमता के साथ शांत प्रकृति और गंभीर भावनाओं का सुंदर योग प्राप्त होता है। देवोपम मानव-चरित्र की संपूर्ण विभूतियों का उसमें अच्छा समवाय है। वह अपनी निर्लिप्त कर्मवीरता के बल पर हमारी श्रद्धा और भक्ति का आलंबन बन जाता है। उसको देखकर इतिहास तो भूल जाता है, परंतु उसका व्यक्तित्व हमारे मानस-लोक में अमर हो उठता

है। नाटककार ने उसमें पाश्चात्य व्यक्ति, वैचित्र्य और भारतीय साधारणीकरण का सुंदर समन्वय किया है। संपूर्ण नाटक में उसका व्यक्तित्व प्रधान है। अन्य सभी पात्र उसके साथ चलते, साथ विरत होते हैं। अथवा उसके चरित्र से प्रभावित रहते हैं।

स्कंदगुप्त वीर, निर्भीक, स्वावलंबी, उदार, कर्तव्यपरायण और व्यवहारकुशल व्यक्ति है। आरंभ में उसका संपूर्ण तेज विरक्तिमूलक भावनाओं से आच्छन्न दिखाई पड़ता है, परंतु यह विरक्ति उसकी व्यक्तिगत विशेषता है। उसने कभी स्कंद के सामाजिक जीवन की प्रकृत धारा में किसी प्रकार की उदासीनता नहीं उत्पन्न होने दी। इसके जो कारण हैं वे सब मानसिक हैं। विचार-गांभीर्य के कारण एक तो स्कंद यों ही शांत स्वभाव का है, दूसरे गुप्तसाम्राज्य का उत्तराधिकार नियम भी उसे चिंतित बनाए रखता है। आगे चलकर भी वह जीवन की उग्र परिस्थितियों से निरंतर युद्ध करने के कारण शांत होकर अपने जीवन में जब प्रेम की शीतल छाया का भी अभाव ही पाता है तब उसकी यह विरक्ति भी समय-समय पर कुछ उद्दीप्त हो उठती है। परंतु इसका यह उद्दीपन व्यक्ति और समाज के लिए किसी प्रकार घातक नहीं बनता, बल्कि स्कंद के व्यक्तित्व को देवोपम बनाने में सहायक होता है। देवसेना की ओर से जब वह प्रेम का भौतिक आश्रय नहीं पाता तो वही विरक्ति मंगलमय हो उठती है। तभी वह त्याग की उस उच्च भूमिका में पहुँच सका है जहाँ असाधारण पराक्रम से विजित राष्ट्र को एक तिन्के की भाँति पुरगुप्त को दान कर देने की क्षमता उसमें उत्पन्न हो गई है। उस स्थल पर पहुँचकर उसका सच्चा शिवत्न देखने में आता है।

यों तो स्कंदगुप्त में उदात्त नायक के सभी गुण विद्यमान हैं; परंतु रह-रहकर उसका आंतरिक विराग जाग उठता है और उसे अपने संघर्षपूर्ण कार्यकलाप पर चिंता होती है। वह सोचने लगता है- ‘सम्राट कुमारगुप्त का आसन मेरे योग्य नहीं है। मैं झगड़ा करना नहीं चाहता, मुझे सिंहासन न चाहिए। पुरगुप्त को रहने दो। मेरा अकेला जीवन है। मुझे. . . , करना क्या है।’ इस विराग-भाव में भी उसके विचार सदैव उन्नत ही रहते हैं। वह चक्रपालित से कहता है- ‘संसार में जो सबसे महान है वह क्या है। त्याग! त्याग का ही दूसरा नाम महत्त्व है’। उसे अधिकार, राज्य और युद्ध में विशेष तत्व नहीं दिखाई पड़ता फिर भी वह पराडःमुख नहीं होता।

अनेकानेक आदर्शगुणों के साथ-साथ स्कंद व्यवहार कुशल भी है। स्थिति की गहनता समझकर अनुकूल आचरण का पूरा उद्योग करता है। उसकी व्यवहार, बुद्धि का रूप दो स्थलों पर दिखाई पड़ता है। गुप्तकुल के अव्यवस्थित उत्तराधिकार नियम को स्कंदगुप्त की उदासीनता का कारण बताने पर जिस समय चक्रपालित को पर्णदत्त काँटता है, उस समय स्कंद, चक्र की वकालत करते हुए कहता है- “ ‘आर्य पर्णदत्त’ ! क्षमा कीजिए। हृदय की बातों को राजनीतिक भाषा में व्यक्त करना चक्र नहीं जानता।” दूसरा स्थल वह है जहाँ युद्धभूमि में चक्रपालित ने उसे भटार्क की ओर से सावधान रहने और उस पर विश्वास न करने की सलाह दी है। इस अवसर पर स्कंद का यह उत्तर देना- ‘मैं भटार्क पर विश्वास तो करता नहीं, परंतु उस पर प्रकट रूप से अविश्वास का भी समय नहीं रहा’ . . . उसकी व्यवहार कुशलता का बोधक है।

स्कंदगुप्त में देश-प्रेम का रूप बड़ा ही दिव्य है। निर्लिप्त रूप में निरंतर उसकी यही चेष्टा रहती है कि आर्य साम्राज्य का कल्याण हो। उसका गौरव किसी प्रकार भी विलुप्त न होने पाए। इस साम्राज्य की मंगल-कामना के मूल में उसका कोई अपना स्वार्थ नहीं है। उसके द्वारा

स्कंद न तो अपना स्वत्व चाहता है और न अधिकार की ही उसे लालसा है। उसकी यह भी इच्छा नहीं कि वही शासन करे। जिस समय भटार्क की पैशाचिक प्रतारणा के कारण विदेशी आक्रमणकारी सफल होते हैं और कुभा के रणक्षेत्र में स्कंद की सेना असफल होती है उस समय स्कंदगुप्त शक्तिहीन होकर भविष्य की बात सोचने-विचारने लगता है। उसे अपने दुखों की चिंता नहीं होती। उसे केवल ग्लानि इसी बात की है कि 'यह ठीकरा इसी सिर पर फूटने को था। आर्य-साम्राज्य का नाश इन्हीं आँखों को देखना था। हृदय काँप उठता है। देशाभिमान गरजने लगता है। मेरो स्वत्व न हो, मुझे अधिकार की आवश्यकता नहीं। यह नीति और सदाचारों का महान आश्चर्य-वृक्ष गुप्तसाम्राज्य हरा-भरा रहे और कोई भी इसका उपयुक्त रक्षक हो ' इस कथन में कितना उदार और सच्चा देश-प्रेम है। केवल स्कंदगुप्त ऐसा कर्मठ वीर ही इतने निर्लिप्त राष्ट्र-प्रेम का स्वरूप संमुख उपस्थित कर सकता है। उसके उक्त उद्गार परिस्थिति से प्रेरित नहीं हैं। इस प्रकार की तटस्थ उदारता उसके जीवन का मुख्य अंग है, अन्यथा अतुल पराक्रम से समार्जित साम्राज्य पुरगुप्त को क्षण भर में वह कदापि न दे पाता। उसका देश-प्रेम किसी की सहायता अथवा सैन्यबल पर आश्रित नहीं है। उसकी मूल भित्ति आत्म-विश्वासपूर्ण, निःस्वार्थ और मंगलमयी वह अंतःप्रेरणा है जिसके कारण स्कंद का व्यक्तित्व इतना सुंदर हो उठा है। शुद्ध कर्म-योगी की भाँति उसमें विश्वास है कि 'मैं कुछ नहीं हूँ, उसका (विश्वनियंता का) अस्त्र हूँ- परमात्मा का अमोघ अस्त्र हूँ'। शुद्ध बुद्धि से प्रेरित सच्चे कर्मनिष्ठ की नाई वह जानता है कि न तो किसी से उसकी शत्रुता है और न निज की कोई इच्छा है। इस देश-प्रेम और आत्म-विश्वास से भरी कर्तव्य-भावना का उत्तम उदाहरण वहाँ मिलता है जहाँ उसने कहा है- 'भटार्क'! यदि कोई साथी न मिला तो साम्राज्य के लिए नहीं जन्मभूमि के उद्धार के लिए मैं अकेला युद्ध करूँगा।' पुरगुप्त को युवराजत्व का टीका लगाते समय यदि कोई सत्कामना उसके मन में उत्पन्न होती है तो केवल इतनी ही कि 'देखना, मेरे बाद जन्मभूमि की दुर्दशा न हो।'

स्कंदगुप्त केवल आदर्श देवता ही नहीं है। हम मानवों के समान उसमें भी अभिमान का रूप है। भले ही उसका वह समान-भाव उसके जीवन व्यापी वैराग्य भाव से आक्रांत हो; परंतु उसके सच्चे मित्र बंधुवर्मा को इसका स्पष्ट बोध हो जाता है। उसने विचार किया कि स्कंद के अंतःकरण में तीव्र अभिमान के साथ विराग्य है। इस आलोचना का स्पष्टीकरण स्वयं स्कंदगुप्त के संवादों से हो जाता है जब स्कंद को सब प्रकार से निरीह एवं एकाकी पाकर विजया उसके संमुख अपना प्रेम-प्रस्ताव रखते हुए अपने रत्नागार का प्रलोभन देती है और उस असहाय अवस्था में इस द्रव्य से राष्ट्रोद्धार के अनेक उपायों की संभावना भी है फिर भी इस प्रस्ताव के मूल में जो हानि वृत्ति बैठी है उसको वह परख लेता है। उस समय उसका आत्माभिमान जागता है और वह निरादरपूर्वक उत्तर देता है-

'साम्राज्य के लिए मैं अपने को नहीं बेच सकता'। अर्थलोभी हूण दस्युओं को धूस देकर मालव और सौराष्ट्र को स्वतंत्र कराने में उसके आत्मसम्मान को कड़ा धक्का लगेगा इसको वह अच्छी तरह जानता है और यह भी समझता है कि इस प्रकार के किसी प्रस्ताव को स्वीकार करने में उसका आजीवन-पालित व्यक्तित्व ही नहीं रह जाएगा। अतएव स्पष्ट रूप से वह इसे अस्वीकार करता है- 'सुख के लोभ से, मनुष्य के भय से, मैं उत्कोच देकर क्रांत साम्राज्य नहीं चाहता।' इस कथन में जो प्रकृति गर्व और आत्मसम्मान का भाव निहित है वह स्कंद के व्यक्तित्व को यथार्थ भूमि पर ला खड़ा करता है।

देवसेना :

देवसेना की इस रहस्य भावना के मूल में हृदय-पक्ष की ही प्रधानता दिखाई पड़ती है। इस विचार से आपूर्ण है। उसकी सारी अलौकिकता- त्याग, देशप्रेम, सेवा, सहिष्णुता और रहस्योन्मुखी भावनाएँ-गांभीर्य से आच्छादित दिखाई पड़ती है। गांभीर्य की सहयोगिनी दृढ़ता भी उसमें उच्चकोटि है। प्रथम अंक के अंतिम दृश्य में, जब वह हमारे संमुख पहली बार आती है तभी, देश के मान का, स्त्रियों की प्रतिष्ठा का, बच्चों की रक्षा का विचार उसमें दिखाई देता है। वह अपने समाजिक दायित्व के प्रति सजग है। अतएव वह केवल कल्पना-लोक की वस्तु नहीं है और अँगरेज कवि शेली की चिड़िया की भाँति यथार्थ जगत से सर्वथा परे रहकर, आकाश में ही विचरण नहीं करती, वरन् वर्ड्सवर्थ की कल्पना की भाँति धरातल पर स्थित अपने नीड़ की भी सुध बनाए रहती है।

उसका चरित्र अपने ढंग का निराला है जगत् के व्यावहारिक जीव से उसमें भिन्नता है। उसकी विचारधारा ही कुछ उँची भूमिका पर बहती है। संगीत की वह अनन्य प्रेमिका जीवन और जगत् के कण-कण में एक लय और एक तान देखती है। वह भीतर-बाहर एक-सी अखंड है। प्रत्येक स्थिति में निश्चित रहनेवाली वह रमणी अपनी ऐकांतिक संपूर्णता में डूबी रहती है। उसके जीवन का आदर्श 'एकांत टीले पर, सबसे अलग, शरद के सुंदर प्रभात में फूला हुआ, फूलों से लदा हुआ, पारिजात वृक्ष' है। उसके व्यक्तित्व का स्वरूप समझने के लिए प्रथम तो ऐसे वृक्ष का अनुसंधान आवश्यक है। फिर उस वृक्ष की सभी विभूतियों का विहार देवसेना में देखना होगा उसके जीवन की ऐकांतिकता और निरालापन अन्यत्र दुर्लभ है। वह अपने आंतरिक उद्वैत की मधुर अनुभूति से ही प्रेरित हुआ करती है। इसीलिए बाह्य जगत में भी वह उसी एकरस संगीत का प्रसार पाती है। उसके लिए 'प्रत्येक परमाणु के मिलन में एक सम है, प्रत्येक हरी-हरी पात्ती के हिलने में एक लय है, पक्षियों को देखो, उनकी चहचह, कलकल, छलछल में, कालकी में, रागिनी है'। इसी आंतरिक समत्व के कारण वह विश्व के प्रत्येक रूप में एक ताल देखती है, युद्ध और प्रेम में संगीत का योग चाहती है। श्मशान से भी भयभीत नहीं होती, उसमें भी सत् एवं सुंदर का ही दर्शन करती है।

देवसेना की इस रहस्य-भावना के मूल में हृदय-पक्ष की ही प्रधानता दिखाई पड़ती है। इस विचार से देवसेना भावुकता की जीती-जागती प्रतिमा है। गांभीर्य का योग पाकर यही भावुकता की रहस्योन्मुख बन गई है और प्रेम के क्षेत्र में पहुँचकर यही संयम, त्याग और दृढ़ता आर मंगलकारी स्वरूप खड़ा करती है। प्रथम अंक के अंतिम दृश्य में स्कंदगुप्त को विजया की ओर आकृष्ट देखकर वह अनन्य प्रेमिका जाग सी पड़ती है। स्कंद के प्रति उसका जो अनुराग आगे से चला जाता है वह इस स्थल पर पहुँच कर संपूर्णतः चेतन बनकर उठता है। वही प्रेम महत्तम की सृष्टि करने लगता है। भौतिकता के स्थान पर आध्यात्मिकता आसन जमाती है। वह अब स्थूल को छोड़कर सूक्ष्म में आत्मसंतोष देखने लगती है। कुतूहल और रूप-चमत्कार के कारण ही क्यों न हो यदि एक बार भी स्कंद विजया की ओर खिंचता है तो देवसेना, भावना से कर्तव्य को, अश्विक महत्त्व पूर्ण मानकर, अपनी भौतिक लालसा एवं वासना को उस मार्ग से हटा लेती है। अपने प्रिय के सुख के लिए अपनी कोमलतम कामनाओं की आहुति दे देती है। इस मूक आत्मसमर्पण में देवत्व है। इस स्थल पर पहुँचकर देवसेना का रूप सामान्य मानवभूमि से ऊपर उठता दिखाई देता है।

विद्रोहियों के साथ विजया को देखकर जिस समय स्कंदगुप्त आश्चर्य में पड़कर कहता है- 'परंतु विजया, तुमने यह क्या किया'। उस समय देवसेना की धारणा निश्चय में परिणत हो जाती है- 'आह! जिसकी मुझे आशंका भी वह है। विजया। आज तू हारकर भी जीत गई',। यही से उसके प्रेम की भाँतिकता खंडित हो जाती है और उसमें मंगल और त्याग का आरंभ होता है। विजया का विद्वेष से भरा-उपालंभ- 'उपकारों' की ओट से मरे स्वर्ग को छिपा दिया-पाकर उसके भीतर स्त्रीसुलभ आत्मसंमान उबल पड़ता है। वही वह अपने जीवन की इस जटिल समस्या को सुलझाकर अंतिम निश्चय पर पहुँच जाती है। 'अपना राज्य देकर देवसेना ने स्कंद का प्रणव खरीद लिया'- यह उसके और उसके प्रियतम के लिए मानहानि का विषय है। अतएव उसने अपने ऊपर पूरा विश्वास करके कहा- 'देवसेना मूल्य देकर प्रणय नहीं चाहती'। इसके उपरांत फिर तो अंत तक वह अपने वचनों पर दृढ़ बनी रहती है।

वहाँ से देवसेना में अंतर्द्वंद्व का स्वरूप दिखाई पड़ने लगता है। क्योंकि उसके भीतर 'हाँ' और 'ना' का संघर्ष आरंभ होता है। जिस स्कंद का प्रेम उसके अंतर्जगत को स्वर्ग बना रहा है। और उसके घोर मानसिक विप्लव का एक मात्र कारण है उसी स्कंद को अपना सब कुछ देकर परिवर्तन में उससे कुछ भी नहीं लेना चाहती। केवल यही भावना कि मैंने उन्हें प्यार किया है, उसके संपूर्ण जीवित के लिए अमृत-पाथेय है। इसके अतिरिक्त उसके भीतर कोई भौतिक कामना नहीं है। फिर भी इस स्थूल विछोह में मचलन और कचोट की वेदना है जिसका नियंत्रण वह सदैव किया करती है। उसके कर्म और वचन से उसके हृदय की आँधी का आभास न लग जाए इसका कड़ाई से विचार करती रहती है। केवल एक बार अपनी सखियों से परिवेष्टित रहने पर उसके अंतस् का स्वरूप प्रकट हो सका है। 'मैंने उनसे (स्कंद से) प्रेम की चर्चा करके उनका अपमान नहीं होने दिया है। आज ही मैं प्रेम के नाम पर जी खोलकर रोती हूँ, बस, फिर नहीं। यह एक क्षण का रुदन अनंतर स्वर्ग का सृजन करेगा जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है, तभी मैं संगीत की वीणा मिला लेती हूँ। उसी में सब छिप जाता है।' इतना ही तो देवसेना के प्रेम की गंभीरता का वाचक है। साथ ही प्राणसंकट के समय अपनी गर्दन पर खड़ग तना देखकर अपने इश्वर से एक मात्र यही कामना और याचना प्रकट करती है- 'प्रियतम। मेरे देवता युवराज! तुम्हारी जय हो।' इसके उपरांत उसकी तपस्या आरंभ हो जाती है। फिर तो सच्चे कर्मनिष्ठ की भाँति वह निश्चय कर लेती है- 'कूलों में उफनकर बहनेवाली नदी, तुमुल तरंग, प्रचंड पवन और भयानक वर्षा; परंतु उसमें भी नाव चलानी ही होगी।' इस निश्चय में विश्वता एवं करुणा के साथ निर्लिप्त उत्साह का अद्भुत संमिश्रण है। इसी समरसता में देवसेना का व्यक्तित्व है। स्वरित्र काय ह निरालापन 'प्रसाद' की सर्वोत्तम उद्भावना है। जो इस सृष्टि को अलौकिक कहकर यथातथ्य अथवा यथार्थवाद के दम भरने का ढोंग करें उनके लिए देवसेना का केवल इतना ही कहना पर्याप्त है- "परंतु संसार में ही नक्षत्र से उज्ज्वल किंतु कोमल स्वर्गीय संगीत की प्रतिमा तथा स्थायी कीर्ति सौरभवाले प्राणां देखे जाते हैं । उन्हीं से स्वर्ग का अनुमान कर लिया जा सकता है।"

उसमें निर्लिप्त ममत्व और उत्साह भर रह जाता है। जिस समय भीमवर्मा ने उससे कहा- सम्राट ने तुम्हें बचाने के पुरस्कार-स्वरूप मातृगुप्त को काश्मीर का शासक बना दिया है। उसने केवल इनता ही कहा- 'सम्राट की महानुभावता है। भाई! मेरे प्राणों का इतना मूल्य'। इसके अतिरिक्त जिस समय उसके संमुख स्कंद द्वारा आर्या-साम्राज्य के उद्धार की चर्चा की

गई उसका उत्तर भी बड़ा संक्षिप्त और तटस्थ रूप का है- ‘मंगलमय भगवान् सब मंगल करेंगे। भाई। साहस चाहिए, कोई वस्तु असंभव नहीं।’ इन उत्तरों में किसी प्रकार की आसक्ति या उल्लास नहीं दिखाई पड़ता। अंतस् का कठोर गांभीर्य प्रायः निर्जीव कर दिया गया है। यहाँ से लेकर अंत तक देवसेना में शुद्ध कर्मयोग ही मिलता है। अब उसकी दृष्टिस्व से सर्वथा पृथक् होकर परम की ओर बढ़ गई है।

“साम्राज्य तो नहीं है, मैं बचा हूँ। वह अपना ममत्व तुम्हें अर्पित करके उन्नत होऊँगा और एकांतवास करूँ गा।’ देवसेना। किसी कानन के कोने में तुम्हें देखता हुआ जीवन व्यतीत करूँगा। साम्राज्य की इच्छा नहीं- एक बार कह दो।” स्कंदगुप्त के ममत्व-भरे इस आत्मनिवेदन ने उसकी आध्यात्मिक लालसा परितृप्त कर दी, इससे उसके हृदय की भूख शांत हो गई। परंतु दृढ़ स्वभाव की वह गंभीर रमणी बहुत ऊँचे स्तर पर खड़ी होकर उत्तर देती है- ‘क्षमा हो सम्राट! उस समय आप विजया का स्वप्न देखते थे, अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्त्व को कलंकित न करूँगी। मैं आजीवन दासी बनी रहूँगी, परंतु आपके प्राप्य में भा न लूँगी इस हृदय में आह! कहना ही पड़ा, स्कंदगुप्त को छोड़कर न तो कोई दुसरा आया और न वह जायगा! नाथा मैं आपकी ही हूँ मैंने अपने का दे दिया है, अब उसके बदले कुछ लेता नहीं चाहती’। इस उत्तर-प्रत्युत्तर में जहाँ एक ओर स्कंद के प्रति कर्तव्य और दायित्व से भरा एकांतिक प्रेम है वहाँ दूसरी ओर देवसेना में आत्मसंमान एवं अभिमानी भक्त की सी निष्काम उपासना है। कल्याण की साधना में दोनों साधकों का तुल्ययोग है।

मर्यादा और आत्मसंमान प्रिय होने के कारण अथवा दृढ़व्रत और स्वभावतः गंभीर होने के कारण देवसेना का बाह्यरूप भले ही कुछ कठोर हो गया हो परंतु भीतर प्रेम की मधुर भावना ने हृदय को रमणीय रूप दे रखा है। बाहर ता अवश्य ही नियंत्रण और संयम से भरे उक्त बचत निकले परंतु भीतर कामना का मधुर उच्छ्वास रह-रहकर सिर उठाता रहा। बाहर वह भले ही देवता का रूप बनाए रहती है, परंतु भीतर मानव-भावनाएँ भी तरंगित होती रहती है। दृढ़ का वही रूप देवसेना के व्यक्तित्व का प्राण है। ‘हृदय की कोमल कल्पना! सो जा। जीवन में जिसकी संभावना नहीं, जिसे द्वार पर आए हुए लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए अच्छी बात है।’ इस पुकार मचाने में जो सुंदर और प्रकृत मानव है वह देवसेना को पाषाण-देवी होने से बचा लेता है। अंत में भी यही दिखाई पड़ता है कि वह केवल नंदन की वसंतश्री, अमरावती की शची और स्वर्ग की लक्ष्मी ही नहीं है। वरन् मृत्यू लोक की कामना एवं आशायमी मानवी भी है। स्कंदगुप्त को क्षोभा और दुःख से विहवल देखकर वह ‘मेरे इस जीवन के देवता’ की कहकर रुक नहीं जाती, आगे और उस जीवन के प्राप्य भी कहती है। यही उसके चरित्र की विशिष्टता है।

देवसेना अपने ही में डूबी अनन्य प्रेमिका के रूप में ही रह गई हो ऐसी बात नहीं है। अपनी रहस्य-भावना और संगीत को लेकर केवल कल्पना लोक में ही विचरती रही हो यह बात भी नहीं रह जाती है। वह अपनी वर्गगत विशेषता का भी अच्छा प्रतिनिधित्व करती है। वह सच्ची क्षत्राणी के रूप में भी सामने आई है। आसन्न विपत्ति में निर्भोक रहकर अपने कुल की मर्यादा के लिए अपने कोमल शरीर को भी नष्ट कर सकती है। हूणों के आक्रमण काल में छुरी लेकर अपने शरीर तथा अंतःपुर की रक्षा में योग देती है। युद्ध से रंचमात्र त्रस्त अथवा उद्विग्न नहीं दिखाई पड़ती। उस समय भी उसमें स्वभावज शांति गांभीर्य एवं भावुक निरालापन वर्तमान रहता है।

अपने दायित्व का विचार कर दृढ़तापूर्वक अंतःपुर की रक्षा में तत्पर होकर कहती है- 'भइया! आप निश्चित रहिए'।

इसके अतिरिक्त उसमें देश-प्रेम का बड़ा त्याग पूर्ण प्रसार दिखाई पड़ता है। देश की संमान-रक्षा में जिस सहिष्णुता, सेवा, त्याग और निष्ठा की आवश्यकता रहती हैं, उसमें वे सभी गुण वर्तमान है। आत्मसमर्पण-पूर्ण उदारता की उसमें कमी नहीं हैं। देश-कल्याण के निमित्त राज्य-त्याग में जयमाला को हिचकते पाकर उसे उत्साहित करती है- 'क्षुद्र, स्वार्थ, भाभी, जाने दो, भइया को देखो। कैसा उदार, कैसा महान और कितना पवित्र'। परंतु अंत तक जयमाला को अपने मंतव्य में स्थिर देखकर देश भक्तों की मंडली में स्वयं भी मिल जाती है। राज वैभव और आनंद लालसा उसे विचलित नहीं करती। देश-रक्षा में संबद्ध वीरों की सेवा का कार्य स्वीकार कर लेती है। जयमाला को राज्यभार देकर जाते हुए बंधुवर्मा से वह कहती है- 'चलो भाई, मैं भी तुम लोगों की सेवा करूँगी'। तदनंतर फिर तो वह महादेवी की समाधि परिष्कृत करती और गाकर भीख माँगती दिखाई पड़ती है। अब वह राज-रूप से सर्वथा तटस्थ है। विलास और नीच वासना से भ्रष्ट साधारण जन भी उस पर कुरुचि-पूर्ण व्यंग्य बोलते और परिहास करते हैं। यह दशा देखकर पर्णदत्त भले ही क्रुद्ध होता है परंतु वह महीन आर्यवाला सहिष्णुता की पराकाष्ठा ही दिखाकर रह जाती है। नीचों की बातों का तनिक भी बुरा नहीं मानती। क्रुद्ध पर्णदत्त को समझाते हुए वह कहती भी है- 'क्या है बाबा! क्यों चिड़ रहे हो। जाने दो, जिसने नहीं दिया उसने अपना, कुछ तुम्हारा तो नहीं ले गया'। इस घोर संतोष और पवित्र सहिष्णुता के मूल में देश-प्रेम है। उच्च लक्ष्य की साधना में अपनेपन को भूल ही जाना पड़ता है। वह भीख भी अपने लिए तो माँगती नहीं, माँगती है, साम्राज्य के निरवलंब बिखरे हुए रत्नों की रक्षा को निमित्त देश के लिए वह सब कुछ करने को प्रस्तुत है। देश प्रेम से ही प्रेरित होकर-वह स्कंदगुप्त के उस प्रस्ताव का विरोध करती है जिसमें उन्होंने एकांत में, किसी कानन के कोने में, उसे देखते हुए जीवन व्यतीत करने की इच्छा प्रकट की है। देश का एक मात्र सहारा, उसके निमित्त अपने पुण्य आचरण को छोड़ दे, इससे बढ़कर हीनता की बात उसके लिए और क्या हो सकती है। इसके अतिरिक्त अपने प्रियतम को देश प्रेम ऐसे उदात्त कर्म से वह स्वयं विमुक्त करे यह असंभव ही है। उसने प्रस्ताव का विरोध करते हुए कहा- 'मालव का महत्त्व तो रहेगा ही, परंतु उसका उद्देश्य भी सफल होना चाहिए। आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित नहीं रहेगी।

पर्णदत्त :

पर्णदत्त उन व्यक्तियों में है जो अपने निर्मल चरित्र की झलक मात्र देखकर मानव-हृदय को मुग्ध कर लेते हैं। संपूर्ण नाटक में केवल दो ही स्थलों पर उसके कार्य और चरित्र को देखने का अवसर मिलता है। वह गुप्त-साम्राज्य का प्रमुख योद्धा और सेनापति है। उसकी वीरता की लेखमाला शिप्ता और सिंधु की लोल लहरियों से लिखी जाती है, शत्रु भी उसकी वीरता की सराहना करते सुने जाते हैं। इस आज्ञाकारी सेवक ने वृद्ध होने पर भी गरुड़ध्वज लेकर आर्य चंद्रगुप्त की सेना का संचालन किया है। अभी तक उसके मन में यह वीरोचित कामना बनी है कि गुप्त-साम्राज्य की नासीर सेना में उसी गरुड़ध्वज की छाया में पवित्र क्षात्रधर्म का पालन करते हुए उसके मान के लिए मर मिटे। गुप्त-साम्राज्य पर आपत्ति के बादल मँड़ा रहे हैं और कोई योग्य कर्णधार सामने नहीं आता। यह देख कर पर्णदत्त बड़ा क्षुब्ध और अधीर हो रहा है। युवराज

स्कंदगुप्त को राज्याधिकार की ओर से उदासीन पाकर वह और भी निराश हो जाता है। उसे अनेक प्रकार से उद्बोधन देता है, उत्साहित करता है और अंत में सच्चे हितेच्छु की भाँति उसी समय हृदय से प्रसन्न होता है जब स्कंद कहता है- ‘अकेला स्कंदगुप्त मालव की रक्षा करने के लिए संबद्ध है’। गुप्त-साम्राज्य के हित के विरुद्ध अपने पुत्र तक को – बोलता पाकर उसे डाँट देता है- ‘हम लोग साम्राज्य के सेवक हैं। असावधान बालक अपनी चंचलता को विष-वृक्ष का बीज न बना देना। साम्राज्य-हितेच्छा के अतिरिक्त वह शुद्ध वी है, राज से यह सुनकर भी कि अभी राजधानी से सहायता की कोई आशा नहीं है और इस आसन्न विपद् में अपना ही भरोसा है, उसके उत्साह में कोई कमी नहीं होने पाती। वह उसी प्रकार साहस बनाए रहता है और स्कंद से कहता है- कुछ चिंता नहीं युवराज भगवान सब मंगल करेंगे। चलिए, विश्राम करें।

इसके उपरांत पर्णदत्त का फिर कुछ पता ही नहीं रहता। स्कंद के राज्यारोहण के अवसर पर इस बात की सूचना भर मिल जाती है कि वह सौराष्ट्र की चंचल राष्ट्र-नीति की देखरेख में लगा है। इसमें भी इतना तो अवश्य ही विदित हो जाता है कि इसे आनंद के समय में भी वह तन्मय होकर अपनी ध्येय-प्राप्ति और कर्तव्य-पालन में तत्पर है। इस अवसर के बाद तो फिर वह भी देवसेना के साथ भीख माँगता दिखाई पड़ता है। जिस समय कुभा पार करते हुए ससैन्य स्कंदगुप्त प्रवाह में बह जाता है और उसके उपरांत कुछ दिनों तक संपूर्ण साम्राज्य की सैनिक स्थिति विश्रुंखलित हो जाती है, उस समय इस वृद्ध सेनापति के संमुख केवल एक कर्तव्य रह जाता है कि वह टूटी-फूटी सेना की रक्षा करे और पुनः जब तक सुअवसर न आए तब तक बचे-बचाए सैनिकों का जीवन-निर्वाह करता रहे। राज्यक्रांति और दारिद्र्य के कारण अन्न के लाले पड़े हैं, लोग भूख से तड़प रहे हैं। ऐसी अवस्था में पर्णदत्त ने जो कार्य-भार अपने ऊपर लिया है वह मनुष्यता के नाते और राजनीतिक विचार से भी आवश्यक है। अपनी दुर्दशाग्रस्त परिस्थिति का वह स्वयं उल्लेख इस प्रकार करता है – सूखी रोटियाँ बचाकर रखनी पड़ती हैं। जिन्हें कुत्तो को देते हुए भी संकोच होता था। उन्हीं कुत्सित अन्नों का संचया अक्षय निधि के समान उन पर पहरा देता हूँ। क्योंकि उसके ऊपर सैकड़ों अनाथ वीरों के बालकों का भार है। वे युद्ध में मरना जानते हैं, परंतु भूख से तड़पते हुए उन्हें देखकर आँखों से रक्त गिर पड़ता है। उसे दुख तो तब होता है जब देश की दुर्दशा होते देखकर भी देश के युवक विलासिता और वासनाओं में ही लिप्त दिखाई पड़ते हैं। फिर भी अपना कर्तव्य तो पालन करता ही पड़ेगा यह समझकर अपना काम करता चलता है - ‘भीख दो बाबा, देश के बच्चे भूखे हैं, नंगे हैं, असहाय हैं, कुछ दो बाबा’।

इस स्थिति में उसे अपना जय-जयकार भी प्रिय नहीं था, क्योंकि उसे लक्ष्य साधन में वह किसी प्रकार सहायक नहीं हो सकता है। वह तो देश की मुक्ति चाहता है जिसके लिए प्राणों का उत्सर्ग करनेवालो विरों की आवश्यकता है; अथवा द्रव्य चाहता है जिसके योग से वह चिढ़ उठता है - ‘मुझे जय नहीं चाहिए’ भीख चाहिए। जो दे सकता हो अपने प्राण, जो जन्मभूमि के लिए उत्सर्ग कर सकता हो जीवन, वैसे वीर चाहिए, कोई देगा भीख में। सच्चे हृदय की पुकार निष्फल नहीं जाती। उसे भीख माँगते हुए स्कंदगुप्त विक्रमादित्य सरीखे वीर मिल जाते हैं और उसके जीवन का चरम लक्ष्य पूर्ण हो जाता है। इस प्रकार पर्णदत्त आद्यांत सच्चे वीर योद्धा की भाँति साम्राज्य की हितकामना में लगा रहता है। संकट – काल में अनेक विकट समस्याओं का सामना करता है, परंतु अपने कर्तव्य-पथ से डिगता नहीं। वह सच्चा देशभक्त है।

बंधुवर्मा :

बंधुवर्मा उन पात्रों में है जिसका संबंध कथानक के बीच से आरंभ होता और कुछ काल तक योगवाही रूप में चलकर समाप्त हो जाता है। यों तो ऐसे पात्रों को प्रमुख स्थान नहीं मिलता, पर बंधु वर्मा में एक विशेषता है। उसके युद्ध में प्राण विसर्जन कर देने के उपरांत भी उसकी शक्ति और प्रभाव जीवित बने रहते हैं। उसकी समाप्ति तो वस्तुतः उसी समय होती है जब उसके सहयोगी उस लक्ष्य की प्राप्ति कर लेते हैं जिसके लिए उसका जीवित समर्पित था। थोड़े काल के लिए ही इस भव में आकर बंधुवर्मा अमर हो जाता है। नाटक के वस्तु-विन्यास में उसकी चारितावली का एक चमत्कार है। उसकी उदारता और त्याग विशेष प्रकार के हैं। वह फल प्राप्ति के प्रसाद की दृढ़ नीव बन जाता है। उसमें सच्ची क्षात्र-भावना का उज्ज्वल स्वरूप दिखाई पड़ता है।

विजय पर किया हुआ जयमाला का व्यंग्य उसे अप्रिय लगता है। अपने आश्रितों के प्रति कठोर और अप्रिय सत्य का प्रयोग भी साधारण सौजन्य के विरुद्ध है। अपनी पत्नी के अप्रिय व्यंग्य के कारण उसकी व्यावहारिक शिष्टता को चोट लगती है - 'प्रिये! शरणागत और हूणों की संमिलित वाहिनी से आज दुर्ग की रक्षा न कर बात पर इतना ध्यान, उसकी सुजनता का घातक है। उसका व्यवहार - भाँति समझ जाता है, कि आर्यावर्त का एकमात्र आशास्थल युवराज स्कंदगुप्त है। किससे सहयोग करे, किस पर अपने सर्वस्व को निछावर करके वह इस आपत्तिकाल में साम्राज्य रक्षा एवं देश का कल्याण कर सकता है इसका निर्णय वह तुरंत कर लेता है। निर्णय के अनुसार अपना कर्तव्य भी स्थिर कर लेता है - "मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब से इस वीर परोपकारी के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है।"

परिस्थिति की गहनता से प्रेरित होकर यही प्रतिज्ञा उस पुण्य महापर्व का कारण बन सकता है जो बंधुवर्मा के जीवन में मंगल का रूप है। स्कंदगुप्त अपनी राजधानी में शक्ति-संचय नहीं कर सकता। परिवारिक दुरभिसंधि के फेर में पड़ने से देश का अहित हो सकता है। इसलिए आवश्यक समझकर महात्याग के लिए वह अपने को प्रस्तुत कर लेता है। इसके लिए उसे आधार और तर्क भी मिल जाते हैं - 'महाराज सिंहवर्मा ने एक स्वतंत्र राज्य स्थापित किया था। अब उनके वंशधर ही उस राज्य के स्वत्वाधिकारी हैं, परंतु उस राज्य का ध्वंस हो चुका था म्लेच्छों की संमिलित वाहिनी उसे धूल में मिला चुकी थी' तब इन्हीं स्कंदगुप्त ने उसकी रक्षा की थी, यह राज्य अब न्याय से उन्हीं का है। इस प्रस्ताव का विरोध जब जयमाला करती है तो वह समझता है और अपना मन्तव्य स्पष्ट कर देता है - आर्यावर्त का जीवन स्कंदगुप्त के कल्याण से है और मैं साम्राज्यभिषेक का अनुष्ठान होगा, सम्राट होंगे स्कंदगुप्त देश की उपकार की तुलना में अपने राज्य का महत्व वह कुछ नहीं मानता। राजसिंहासन सुख और शारीरिक विलासिता का केन्द्र है और क्षत्रियों का कर्तव्य है - "आर्तत्रण-परायण होना, विपद् का हँसते हुए आलिंगन करता, विभीषिकाओं की मुसकराकर अवहेलना करना, और विपत्तियों के लिए और अपने धर्म के लिए, देश के लिए प्राण देना। इसी विचार के अनुसार अपना राज्य-त्याग कर वह सैनिक पद स्वीकार करता है - "बंधुवर्मा तो आज से आर्य-साम्राज्यसेना एक साधारण पदातिक सैनिक है।" इसी आन पर अंत तक वहा अड़ा रहता है और यही प्रचारित करता है कि "मालव का राज कुटुंब, एक-एक बच्चा आर्य-जाति के कल्याण के लिए जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत है।"

वह उत्साह से भरे सच्चे सैनिक और योद्धा के रूप में ही अमर है। वह कोई राजनीतिक पुरुष नहीं है। वह स्वयं अपनी शक्ति को जानता है — बंधुवर्मा मरने-मारने में जितना पटु है, उतना षडयंत्र तोड़ने में नहीं। सच्चे वीर की भाँति कर्तव्यपालन के लिए अपने प्रिय स्कंद के सामने भी अड़ जाता है - यहाँ हूणों को रोकना मेरा ही कर्तव्य है, उसे मैं ही करूँगा इसी कर्तव्यपालन में उसकी मृत्यु होती है, और वह त्यागवीर दम तोड़ते-तोड़ते भी 'आर्य-साम्राज्य की जय' गाता जाता है।

जयमाला :

जयमाला में सच्ची क्षत्राणी का यथार्थ एवं प्रकृत रूप मिलता है। वह आग की चिनगारी और ज्वालामुखी की सुंदर लट के समान है। दो-चार ही स्थलों पर वह संमुख आती है परंतु उसके व्यक्तिमत्त्व पूर्ण चरित्र में उज्वलता भरी है। उसमें उत्साह, स्वावलंबन और गौरव का विचार है — “हम क्षत्राणी है, चिरसंगिनी खड्गलता का हम लोगों से चिर स्नेह है।” केवल इसी कथन में उनका संपूर्ण तेज झलकता दिखाई पड़ता है। वह युद्ध को गान समझती है और उसे ध्वंसमयी महामाया प्रकृति का निरंतर संगीत मानती है। क्षत्रियोचित स्वाभिमान का उसमें उग्र स्वरूप दिखाया गया है। युवराज की सहायता पर आशा लगाए अपने पति को उपालंग देती हुई वह उसे उत्साहित करती है साथ ही अपने दायित्व का विचार कर पति के कर्तव्यपालन में योग भी देती है। एक साथ ही में उसमें निर्भिकता, गर्व, स्वावलंबन, उत्तरदायित्व, वीरता आदि गुण झलक उठते हैं। आसन्न विपत्ति में भी वह सदैव की भाँति स्थिर भाव से तत्पर करने का साहस हुआ था। “जाओ प्रभु! सेना लेकर विक्रमसिंह से सेना पर टूट पड़ो। दुर्गरक्षा का भार मैं लेती हूँ।” उसके इस कथन में गर्व और आत्मविश्वास भरा हुआ है।

जयमाला देवसेना की भाँति भावना लोक की दूती नहीं है। वह यथार्थ जगत की मानवी है। उसमें स्त्री सुलभ व्यंग्य, वेदना, स्पष्ट वादिता और पार्थिव ममत्व भी है। विजया को भयभीत होते देखकर वह उसकी भर्त्सना में व्यंग का भी प्रयोग करती है। परिस्थिति के विचार से उसका व्यंग्य कटु होने पर भी यथार्थ है — “स्वर्ण - रत्न की चमक देखने वाली आँखे निजली सी तलवारों से तेज को कब सह सकती है। “इसके अतिरिक्त बंधुवर्मा के राज्य-दान का प्रस्ताव भी उसे अच्छा नहीं लगता। पैतृक संपत्ति का महत्व वह सरलता से नहीं छोड़ सकती। अपना राज्य छोड़कर दुसरो की सेवा करनी पड़ेगी यही आशंका उसे चिंतित करती है। चिंता का यह रूप शुद्ध मानवीय है। इसे जयमाला की चरित्र भी दुर्बलता नहीं कहा जा सकता। इसी बल पर वह व्यवहारिक जगत् की सच्ची प्रतिनिधि है। स्कंदगुप्त और देवसेना को संभवतः सामान्य मानवता की पंक्ति में स्थान न मिलेगा, परंतु उसे हम अवश्य अपने बीच में देख सकते हैं। देवसेना की उदार वाणी का भी वह, स्पष्ट शब्दों में विरोध करती है — “विश्वप्रेम, सर्वभूत - हित - कामना परम धर्म है, परंतु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि अपने पर प्रेम न हो।”

वह विरोध करती है परंतु उसमें दुराग्रह का रूप नहीं है। जब उसने देखा की प्रस्ताव के पक्ष में सभी की संमत्ती है तो मर्यादा और पद का विचार करके आग्रह छोड़ देती है — “जब सभी लोगों की ऐसी इच्छा है, तब मुझे क्या।” इन शब्दों में सब के संमुख वह अपनी हार स्वीकार कर लेती है। उस प्रस्ताव का गुरुत्व और उसके मूल में जो आत्मत्याग है उसका विचार करती है, साथ ही देशहित की बात भी सोचती है। पति के प्रति अपने कर्तव्य - भाव का भी वह ध्यान

करती है – पतिदेव आपकी दासी क्षमा माँगती है। मेरी आँखें खुल गईं। आज हमने जो राज्य पाया है वह विश्वसाम्राज्य से भी ऊँचा है। इस कथन में जो प्रणति और आत्मसमर्पण है वह वस्तुतः उसी कर्तव्यभाव से प्रेरित है। आगे चलकर तो इसी आत्मसमर्पण का स्थूल रूप भर रह जाता है। राज्यारोहण उत्सव में स्कंदगुप्त से वह स्वयं प्रस्ताव करती है। - “देव! यह सिंहासन आपका है। मालवेश का इस पर कोई अधिकार नहीं. . . . आर्यावर्त के सम्राट के अतिरिक्त अब दूसरा कोई मालव के सिंहासन पर नहीं बैठ सकता।”

भटार्क :

गुप्त-साम्राज्य का नवीन महाबलाधिकृत भटार्क विचारशील, चतुर, स्वाभिमानी, षडयंत्र में पटु, महत्वाकांशी एवं वीर योद्धा है उसमें भारतीय धीरोद्धत नायका का अच्छा रूप दिखाई पड़ता है। उसे अपनी तलवार का विश्वास है और अपनी वीरता का अभिमान है – “क्या मेरी खड्गलता आग के फूल नहीं बरसाती। क्या मेरे रणनाद वज्रध्वनि के समान शत्रु के कलेजे नहीं कँपा देते। क्या भटार्क का लोहा भारत के क्षत्रिय नहीं मानते।” वह दृढनिश्चयी भी है। साध्य और साधन का रूप एक बार फिर स्थिर कर लेने पर कड़ाई से काम लेता है। शर्वताग को इधर-उधर करते देखकर उसने स्पष्ट कह दिया – इस चक्र से तुम नहीं निकल सकते, या तो करो या तो मरो। मैं सज्जनता का स्वाँग नहीं ले सकता, मुझे वह नहीं भाता। मुझे कुछ लेना है, वह जैसे मिलेगा लूँगा। साथ दोगे तो तुम भी लाभ में रहोगे।

गुण भी कुत्सित भावना से प्रेरित होकर विषक्त बन जाते हैं। भटार्क जैसा वीर भी अपनी महत्वाकांक्षा और प्रतिशोध की भावना से नियंत्रित होने के कारण अनंतदेवी के पाश में फँस जाता है। फिर तो ऐसा जकड़ जाता है कि अंतःकरण की प्रेरणा होने पर भी षडयंत्र से निकल नहीं पाता। इसे वह अपना दुर्भाग्य ही मानता है। उसकी स्थिति बड़ी विषम हो गयी है। अन्यथा वह इतना नीच नहीं है, परंतु वह विवश है। एक बार हाँ करके वह मुकरे कैसे वह अनंतदेवी के उपकार को मानता है। उसी ने उसे महत्व का पद दिलाया है। उसी की कृपा से वह साम्राज्य का महाबलाधिकृत बन सका है। एक तो यह भी कारण है जिससे वह अनंतदेवी के कुचक्र में पड़ता है। उसने आश्वासनभरे शब्दों में अपनी कृतज्ञता स्पष्ट की है – मैं कृतघ्न नहीं हूँ। महादेवी आप निश्चित रहे। दूसरा कारण प्रतिशोध का विचार है। पुष्यमित्रों के युद्ध में उसे सेनापती की पदवी नहीं मिली। उस पर विरोधियों ने व्यंग्यपूर्ण आक्षेप किए हैं। यह वह सहन नहीं कर सका है। उसके मत में विद्वेष उत्पन्न होता है। अपने हत्या की इस कटु स्थिति को उसने अनंतदेवी के संमुख प्रकट किया है – “महादेवी कल सम्राट के समक्ष जो और व्यंगबाण मुझ पर बरसाए गए हैं वे अंतस्थल में गड़े हुए हैं। उनके निकालने का प्रयत्न नहीं करूँगा, वे ही भावी विप्लव में सहायक होंगे। मेरा हृदय शूलों के लौहफलक सहने के लिए है, क्षुद्र-विहा-वाक्य-बाण के लिए नहीं। इसी व्यंग्य से उत्तेजित होकर वह पृथ्वीसेन, महाप्रतिहार इत्यादि को आत्महत्या के लिए विवश करता है। इस अर्थ-कारी कार्यव्यापार से भी वह एक प्रकार से दुःखी ही दिखाई पड़ता है। उसके भीतर का मानव हृदय कराह उठा है – “परंतु भूल हुई। ऐसे स्वामिभक्त सेवक,” परंतु कृतनिश्चय की कठोरता उस कराह को दबा देती है। वह अपने को सांत्वना दे लेता है – “तो ज्याँय, सब जाँय, गुप्त-साम्राज्य के हीरों के से उज्ज्वल हृदय, वीर युवकों का शुद्ध रक्त, सब मेरी प्रतिहिंसा राक्षसी के लिए बलि हो।”

असत् का पलड़ा सदैव हलका रहता है। भटार्क जैसा वीर योद्धा भी कुमार्गियों के चक्र में पड़कर गिरता है। उसकी कृति बिगड़ती है। उसकी आत्मा का हनन होता है और उसका सारा तेज नष्ट हो जाता है। परिणाम रूप उसे कई बार मुँह की खानी पड़ती है। महादेवी देवकी की हत्या करते समय स्कंदगुप्त से पराजित होता है, गोविंदगुप्त के सामने तलवार निकालते ही तलवार छीन ली जाती है और अंत में स्कंदगुप्त के संमुख बंदी होकर आता है। उस समय स्कंदगुप्त जो अपनी माता की इच्छा के अनुसार सब को मुक्त कर देता है उसका प्रभाव भटार्क पर भी पड़ता है। इस कारण सद्भावना एक बार उसमें पुनः उमड़ती है और देवसेना ही हत्या के समय वह एक बार फिर विचार करता है – “मैं कृतघ्नता से कलंकित होऊँगा और पुरगुप्त से प्रतिशोध हो चुका है। विवरा हो जाता है। उसमें सद्बुद्धि एकदम विलुप्त नहीं हो गई है, प्रत्यावर्तन चाहता है पर कर नहीं पाता और इसी प्रकार अंसकल्पित पाप करता चलता है। इसे वह अपना दुर्भाग्य ही मानता है – “पाप-पंक में लिप्त मनुष्य को छुट्टी नहीं। कुकर्म उसे पकड़कर अपने जाग-पाश में बाँध लेता है। दुर्भाग्य।” इसी तरह जब वह स्कंद द्वारा अपने ऊपर किया उपकारों का अनुकथन करने लगता है और प्रपंचबुद्धि उसमें कहता है – तुम मूर्ख हो! शत्रु से बदला लेने का उपाय करना चाहता न कि उसके उपकारों का स्मरण। तब उसे यह हीनता खलती है और वह स्पष्ट विरोध करता है – “मैं इतना नीच नहीं हूँ। परंतु वह अपने को उस खल मंडली के विषाक्त वातावरण से मुक्त कर नहीं पाता; यही विवशता उसकी बेड़ा बन जाती है और वह निरंतर द्वंद्व में पड़ा चलता है।”

विवश होकर ही क्यों न हो जब एक बार स्कंदगुप्त का विरोध करने और अनंतदेवी का साथ देने का निश्चय कर लेता है तब कोई बात उठा नहीं रखता। विजया के कहने पर – “अहा! यदि आज राजाधिराज कहकर युवराज पुरगुप्त का अभिनंदन कर सकती।” वह तुरंत उत्तर देता है – “यदि मैं जीता रहा तो वह भी कर दिखाऊँगा।” इसके उपरांत तो वह उबल पड़ता है; चेष्टा करता है कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर ले। खिंगिल के दूत से अपना अंतरंग अभिप्राय कहता है – हूणों को एक बार ही भारतीय सीमा से दूर करने के लिए स्कंदगुप्त ने समस्त सामंतों को आमंत्रण दिया। मगध की रक्षक सेना भी उसमें संमिलित होगी और मैं ही उसका परिचालन करूँगा। वहीं इसका खिंगिल के प्रति सचाई का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलेगा। इसी प्रत्यक्ष प्रमाण के लिए मेरा खड्ग साम्राज्य की सेवा करेगा – कहकर भी वह स्कंदगुप्त के साथ विश्वासघात करता है। हूण-सेना के इस पार आने पर उसका मार्ग-प्रदर्शन करता है और कुभा का बाँध इस प्रकार काट देता है कि सेनासहित स्कंद उसमें बह जाता है। जहाँ तक हो सका है अनंत-देवी की सहायता के निमित्त वह अपने व्यक्तित्व को गिरने में भी हिचकता नहीं। वह सब कुछ करता है, परंतु सदैव स्कंदगुप्त के व्यक्तित्व से प्रभावित होता रहता है। अपनी अंतिम करनी के कारण पीछे उसमें ग्लानि उत्पन्न होता है। वह विचार करता है – देश और देश के सच्चे उद्धारक का इतनी नीचता से विरोध करके उसने क्या लाभ किया। थोड़े से भौतिक लाभ के लिए इतना जधन्य जीवन उसे प्रिय नहीं लगता। ग्लानि से प्रायश्चित्त की भावना उत्पन्न होती है और प्रायश्चित्त से आत्म-परिष्कार आरंभ होता है। भटार्क ऐसे दृढ़निश्चयी, वीर योद्धा के मन में यदि अपने प्रति ग्लानि उत्पन्न होती है तो परिणाम का सुंदर होना अनिवार्य हो जाता है। यों तो बीच-बीच में सद्भावनाओं उसके भीतर उठती है परंतु परिस्थिति से आवक रहने के कारण वह उनका अनुसारी परिणाम उपस्थित नहीं कर पाता। अपनी अंतिम नीचता से वह स्वयं सिहर उठता है। गिरिज के युद्ध के उपरांत उसमें परिवर्तन उत्पन्न होता है। फिर तो जिस सचाई के साथ उसने विरोधी-दल का साथ दिया था उसी निश्चय के साथ इस ओर मुड़ता है और देश के

त्राण में सहायक बनता है। अपनी माता की भर्त्सना पाकर वह कहता है — “माँ क्षमा करो। आज से मैंने शस्त्र त्याग किया। मैं इस संघर्ष से अलग हूँ, अब अपनी दुर्बुद्धि से तुम्हें कष्ट न पहुँचाऊँगा।” यहीं से इसमें पुण्य-प्रवृत्ति जगती है जिसे प्रेरित होकर तुरंत वह सैनिकों को आज्ञा देता है — “महादेवी की अंत्येष्टिक्रिया राजसम्मान से होनी चाहिए। चलो, शीघ्रता करो।” भटार्क का यह प्रत्यावर्तन प्रकृत है, क्योंकि मातृभक्ति उसमें आरंभ्य से ही दिखाई पड़ी है। कमला के पूछने पर कि “तू मेरा पुत्र है कि नहीं” वह स्पष्ट स्वीकार करता है — “माँ! संसार में इतना ही तो स्थिर सत्य है और मुझे इतने ही पर विश्वास है। संसार के समस्त के लांधुनों का मैं तिरस्कार करता हूँ, किसलिए। केवल इसलिए कि तू मेरा माँ है और वह जीवित है।” अपनी ऐसी माता के संमुख वह असत्य नहीं बन सकता। उसके सामने अपना निश्चय प्रकट करने पर अब फिर वह मुख नहीं मोड़ सकता। अपने जीवन की घटनाओं और उनके मूल में बैठी अपनी वृत्तियों की आलोचना जब वह स्वयं करने लगता है तो अपनी भूल की भीषणता से दुखी हो उठता है — “ऐसा वीर इस उपयुक्त और ऐसा परोपकारी सम्राट। परंतु गया, मेरी ही भूल से सीमा तक पहुँच गया, अनन्ददेवी! क्षुद्र नारी — उसके कुचक्र में आशा के प्रलोभन में, मैंने सब बिगाड़ दिया। सुना है कि कहीं यहीं स्कंदगुप्त भी है, चलो उस महान का दर्शन तो कर लूँ।” इस सुंदर निश्चय को लेकर इधर आकर देखता है कि विजया स्कंद के सामने प्रेम का नाट्य कर रही है। ग्लानि से दुखी भटार्क क्षुब्ध हो जाता है। जिसके उपर अत्याचार करके वह भी लज्जित है और जिससे क्षमा-याचना करने वह स्वयं आया है। इसी के प्रति अपनी पत्नी को अपराध करते पाकर और भी दुखी हो जाता है। आत्महत्या ही उसे अपने प्रायश्चित्त का सरल उपाय दिखाई पड़ता है। वह स्कंद को संबोधित करके कहता है — “देव! मेरी भी लीला समाप्त है। धुरी निकालकर अपने को मारना ही चाहता है कि स्कंद हाथ पकड़ लेता है और उसे संप्रबोधन है “आत्महत्या के लिए जो अस्त्र तुमने ग्रहण किया है, उसे शत्रु के लिए सुरक्षित रखो।” इस प्रकार उसे उचित मार्ग का निर्देश मिल जाता है और वह तुरंत स्वीकार करता है — “जो आज्ञा होगी, वही करूँगा।” यहाँ आकर अब वह स्कंद का पूर्ण सहायोगी बन जाता है। विजया का रत्नागृह प्रकट होने पर स्कंदगुप्त कहता है — “भटार्क! यह तुम्हारा है। परंतु भटार्क तो देश का हो चुका है, अतः वह तदनुकूथ उत्तर देता है —” हाँ, सस्त्राद! यह हमारा है, इसलिए देश का है। आज से मैं सेना-संकलन में लगूँगा। भटार्क का यह प्रत्यवर्तन बड़ा भव्य और मंगलमय है।

विजया :

मालव धनकुबेर की कन्या विजया के जीवन का प्रेम और श्रेय सौंदर्य और महत्त्व है। वर्गगत विशेषता के रूप में धन का प्रेम भी। उसको केवल अपने धन की रक्षा का ध्यान है। उसकी संपत्ति की ओर यदि किसी की दृष्टि लगती है तो वह स्वार्थ-रक्षा के विचार से व्यावहारिक व्यंग्य से भी काम लेती है। जयमाला के प्रस्ताव पर उसका उत्तर- “किंतु इस प्रकार अर्थ देकर विजय खरीदना तो देश की विरता के प्रतिकूल है” — इस बात का साक्षी है। वह वणिक कुमारी शुद्र क्षत्रियत्व की भावना और तेज को समझने में सर्वथा असमर्थ रहती है स्वर्णरत्न की चमक देखनेवाली आँखे बिजली सी तलवारों के तेज को कब सह सकती है। इसी लिए जयमाला के कहते ही दुर्ग-रक्षा का भार मैं लेती हूँ, वह त्रस्त हो उठती है और तुरंत बंधुवर्मा को संबोधित करके कहती है “महाराज यह केवल वाचालता है। दुर्ग-रक्षा का भार किसी सुयोग्य सेनापति पर होना चाहिए।” देवसेना को युद्ध-काल में भी गाने का प्रस्ताव करते देखकर

उसे बड़ा आश्चर्य होता है। युद्ध और गान! क्योंकि ऐसी भावना से उसका सहज विरोध है। इसी प्रकार बाहर कोलाहल और भयानक शब्द होते सुनकर ही घबड़ा उठती है। जयमाला से कहती है महारानी किसी सुरक्षित स्थान में निकल चलिए। छुरी लेने की बात सुनते ही उसके प्राण छूटने लगते हैं”। न! न! मैं लेकर क्या करूँगी भयानक! छुरी में भी कहीं सौन्दर्य है। इसके समझने की सहजशक्ति ही उसमें नहीं है।

विजया के चरित्र की दुर्बलता का प्रधान कारण है चंचलता। दृढ़ता, स्थिरता और विवेक-बुद्धि की उसमें अतीव न्यूनता है। प्रणय के क्षेत्र में इसी चंचलता ने उसे व्याभिचारिणी बना दिया है। पहले तो उसने स्कंदगुप्त की सुंदर मूर्ति देखी और उस पर लुभाई परंतु इस अनुराग-भावना में महत्त्व की आकांक्षा संनिहित थी। उसने देवसेना से स्वीकार किया है “मुझे तो आज तक किसी को देखकर हारना न पड़ा हँ एक युवराज के सामने मन ढीला हुआ, परंतु मैं उसे कुछ राजकीय प्रभाव भी कहकर टाक दे सकती हूँ। स्कंद को स्वीकार करने मैं तुरंत ही उसे एक बाधा भी दिखाई देती है युवराज तो उदासीन है दुर्बलता इन्हें राज्य से हटा रही हैं।” स्कंद की विरक्ति – मूलक प्रवृत्ति देखकर वह भी उस ओर से विरक्त ही हो उठती है, क्योंकि उसके प्रणय का लक्ष्य शारिरिक स्वास्थ्य एवं सौंदर्य के साथ-साथ महत्त्व भी है। जहाँ इन दोनों का योग हो वहीं वह रम सकती है। स्कंद में एक पक्ष की न्यूनता उसे खटकी और वह पलट पड़ती है। समीप ही दूसरे व्यक्ति चक्रपालित को देखकर कहा उठती है। “प्रशस्त वक्ष है, उदार मुखमंडल है।” उसमें बचे हुए अंश की पूर्ति उसकी अंतरंग सखी देवसेना कर देती है और सबसे अच्छी बात एक है। तुम समझती हो कि वह महत्त्वाकांक्षी है। उसे तुम अपने वैभष से क्रय कर सकती हो। प्रणय के अपने इसी मानदंड को लेकर वह आगे बढ़ती है।

भटार्क में उसे दोनो वस्तुएँ एकत्र मिल जाती है। अहा! कैसी वीरत्व-व्यंजक मनोहर मूर्ति है और गुप्त-साम्राज्य का महाबलाधिकृत। इसके अतिरिक्त उसे और कुछ नहीं चाहिए। वह सोचती है मैं मालव में अब किस काम की हूँ जिसके भाई ने समस्त राज्य अर्पण कर दिया है कहाँ वह देवसेना और कहाँ मैं। स्थूल और प्रत्यक्ष को ही महत्त्व देने की शक्ति उसमें है। अकारण ही स्कंद की ओर बाधा देखकर वह निर्णय कर लेती है कि भटार्क ही सही। इस पर उसके साथ वह भी बंदिनी बनती है और न्यायाधिकरण में सबके संमुख स्वीकार कर लेती है मैंने भटार्क को वरण किया है। इतने ही से देवसेना के प्रति उसकी प्रतिहिंसा पूरी नहीं होती आगे चलकर यह विरोध – भाव और भी उग्र हो उठता है “राजकुमारी! आज से मेरी ओर देखना मत! मुझे कृत्या अभिशाप की ज्वाला समझना और मुझे न छेड़ना मैं तुम्हारी शत्रु हूँ उपकारों की ओर से मेरे स्वर्ग को छिपा दिया। मेरी कामना – लता को समूल उजाड़कर कुचल दिया। इसके प्रतिशोध में वह देवसेना को स्मशान के बलिस्थान पर जाकर कापालिक प्रपंचबुद्धि के संमुख छोड़कर भाग जाती है। भ्रांति के गर्त में पड़ी विजया इस प्रकार अपने कोमल आवरण में छिपे हुए विषाक्त और कठोर हृदय को सामने रख देती हैं।

भटार्क की मंडली में पहुँचकर भी विजया को शांति नहीं मिलती! कुछ दिनों तक अवश्य ही पुरगुप्त को राजाधिराज के रूप में अभिनंदन करने की कामना लिए हुए पात्र भर-भरकर पिलाती और इस प्रकार युवराज का मन बहलाती रहती है। परंतु यह स्थिति भी अधिक दिनों तक नहीं चलती। अनंतदेवी भटार्क को अपने चंगुल से नहीं निकलने देती और विजया को पुरगुप्त की ओर लगाए रखती है, यह भेद उसकी समझ में आते ही उसमें फिर संदेह उत्पन्न

होता है। अतएव अब उसका विरोध अनन्तदेवी से आरंभ होता है। यहाँ भी असफलता ही मिलती है। वह क्षुब्ध हो उठती है —“प्रलोभन से धमकी से भय से, कोई भी मुझ को भटार्क से नहीं वंचित कर सकता मुझे तुम्हारा सिंहासन नहीं चाहिए। मुझे क्षुद्र पुरगुप्त व विलास — जर्जर मन और यौवन में ही। जीर्ण शरीर का अवलंब वांछनीय नहीं की न रही। इधर भयानक पिशांचो की लीलाभूमि उधर गंभीर समुद्र। दुर्बल रमणी- हृदय अपना अतुलधन और हृदय दूसरों के हाथ में देकर चलूँ कहाँ। किधर!” इत्यादि विचार करते — करते उन्मत्त हो उठती है, अपनी चिंता तरंगों में उलझी हुई और भी सोचती है — स्नेहमयी देवसेना का शंका से तिरस्कार किया, मिलते हुए स्वर्ग को घमंड से तुच्छ समझा, देव तुल्य स्कन्दगुप्त से विद्रोह किया, किसलिए! केवल अपना रूप, धन, यौवन दूसरे को दान करके उन्हें नीचा दिखाने के लिए। इसी अंतर्जीगर्ति का यह फल होता है कि शर्वनाम की प्रेरणा से उसमें परिवर्तन उपस्थित होता है। और वह भी स्वीकार करती है - ‘तुमने सच कहा। सब को कल्याण के शुभागमन के लिए कटिबद्ध होना चाहिए। चलो’। हमारे साथ बचे हुए जीवन का आनंद लो इत्यादि। जब इसका कठोर अस्वीकारत्मक उत्तर स्कंद की ओर से पाती है और उसी समय भटार्क भी यहाँ सहसा पहुँचकर उसकी भर्त्सना करता है तो घोर अपमानित होकर, सब प्रकार से अपने को पराजित मानकर, वह आत्महत्या कर लेती है। इस प्रकार जीवन में उसे केवल हार मिली। इसका प्रधान कारण था उसके चरित्र की मानवीय दुर्बलताएँ — दंभ, अभिमान, लालसा, चंचलता और अविवेक ?

शर्वनाग :

नायक शर्वनाग उन पात्रों का प्रतिनिधी है जो कुमंग के प्रभाव से दुश्चरित्र बन जाते हैं परन्तु फिर परिस्थितियों से प्रभावित होकर अन्त में सुधर कर आदर्श जीवन व्यतीत करने लगते हैं। स्कन्दगुप्त रामा की राजभक्ति से प्रसन्न होकर देवकी की प्राणरक्षा का प्रयत्न करने के पुरस्कारस्वरूप रामा के पति नायक शर्वनाग को अन्तर्वेद का विषयपति बना देता है। शर्वनाग विकासशील पात्र है। शर्वनाग के चरित्र की कतिपय रेखाएँ ही नाटककार ने खींची है परन्तु उन्हीं रेखाओं में इतना उभार है, इतनी स्पष्टता और तीक्ष्णता है कि शर्वनाग ‘स्कन्दगुप्त’ के अविस्मरणीय जीवन्त पात्रों में से एक बन गया है।

अनन्तदेवी :

अनन्तदेवी अपनी नियति का पथ अपने पैरों चलने वाली स्त्री है। वह शक्तिमती तथा छलना की मनःस्थिति की स्त्री है। कुछ दोषों में तो वह उनसे बढ़कर है। महत्वाकांक्षा, साहस, कुटिलता छल-छध तथा कठोरता उसके चरित्र की विशेषताएँ हैं। अपनी कार्यसिद्धि के लिए वह किसी तरह का भी अभिनय कर सकती है। भटार्क को वह केवल एक उक्ति में ही वश में कर लेती है। बाते बनाने में वह दत्त है। जब देवकी की हत्या के अपराध में वह पकड़ी जाती है तो तुरन्त घुटनों के बल बैठकर हाथ जोड़ती हुई स्कन्द से कहती है — “स्कन्द, फिर भी मैं तुम्हारे पिता की पत्नी हूँ।”

अनन्तदेवी के चरित्र से नाटककार ने यह सिद्ध करना चाहा है कि अधिकारलिप्सा व्यक्ति को कितना नीचे गिरा देता है और किस प्रकार पापपंक में एक बार डूब जाने पर मनुष्य एक के बाद एक जघन्य कार्य करता चलता है। अनन्तदेवी प्रसाद के उन अपवाद स्वरूप थोड़े से प्रमुख पात्रों में से है जिनको अपने कुकृत्यों का दंड नहीं मिलता।



माधवी की कथावस्तु तथा चरित्रांकन

कथावस्तु :

‘माधवी’ संवेदनशील नाटकार भीष्म साहनी की तीसरी नाट्यकृति है जो महाभारत के कथानक पर आधारित है। नाटक में भीष्म साहनी का रचनात्मक वैशिष्ट्य उस ययाति कन्या माधवी के समूचे मिथकीय परिवेश को बेधने, नए संदर्भ में रचने और एक जीवन्त, आधुनिक अत्यंत प्रासंगिक चरित्र को रचने में है। पुरुष प्रधान भारतीय समाज ने नारी को बेटी, पत्नी एवं माता के अलावा एक पूजनीय स्थान भी दिया है। उसे शक्ति स्वरूपा, शक्तिदायिनी, कल्याणकारिणी एवं देवी कहा गया है। उसकी पूजा-अर्चना देवालयों, शुभ-त्यौहारों एवं दैत्यों के विनाश के लिए की गई है। वैदिक एवं उत्तर वैदिक साहित्य से लेकर आज तक के साहित्य में नारी को एक विशिष्ट स्थान दिया गया है। ‘यत्र नार्यस्तु पूज्य ते रमन्ते तत्र देवता’ कहकर नारी को जहाँ एक ओर आसमान की ऊँचाई पर बैठा दिया गया, वहीं भक्ति काल में उसे ‘ताड़न की अधिकारी’ कहकर पाताल में ढकेल दिया गया, नर्क प्रदायिनी कहा गया। नारी को समाज ने जो भी स्थान पूजनीय, गृहिणी, अपसर्षसूर्या दिखा है वह कभी भी उसके हित के लिए नहीं, अपितु अपने किसी न किसी स्वार्थ के लिए दिया गया और जब स्वार्थ की सिद्धि हो गई तो उसे पुनः ‘पुनर्मुसको भवः’ की स्थिति में रख दिया। भीष्म साहनी ने अपने नाटक ‘माधवी’ में केवल पौराणिक नारियों की ही दुर्नियति का परिचय नहीं दिया है बल्कि अपने युग के स्त्री-जीवन में रोज-रोज घटित होनेवाली विडंबनाओं का भी लेखा जोखा किया है। गालव को केंद्र में रखकर भीष्म साहनी ने पौरुषेय मिथ्याओं का नया पुराण ही लिख दिया है। उन्होंने पुरुष के विद्या-दम्भ, असत्य-भाषण, स्त्री देह की लोलुपता, स्त्री को फंसाने के लिए संजाल-निर्मित करने की प्रविधि, प्रेम के नाम पर स्त्री के दैहिक सौष्ठव में संभोगीय धंसाव-वृत्ति की क्षुद्रता, झूठी प्रतिज्ञाओं द्वारा यशस्वी बनने की कामना और तप विलोम जैसे तमाम मुद्दों के साक्षीभूत दृश्य-प्रतिदृश्य रचे हैं। काँटों के बीच गुलाब की तरह स्त्री-नियति के चुभते यथार्थों को नमनीय व्यंगों में उभारने का प्रामाणिक प्रयास किया है।

संरचनात्मक दृष्टि से माधवी तीन अंकों का नाटक है, जिसमें पहले अंक में तीन, दूसरे में चार और तीसरे में तीन, कुल मिलाकर दस दृश्य है। नाटक के प्रथम अंक में दो, दूसरे में तीन तथा तीसरे में तीन कुल आठ प्रस्तावनाएँ हैं। नाटक में इन प्रस्तावनाओं का विशेष महत्त्व है। प्रत्येक दृश्य का आरम्भ कथावाचक से होता है। हर अंक में माधवी के जीवन की नई परतें खुलती हैं। बार-बार माधवी वात्सल्य, प्रेम और मातृत्व के अधिकारों से वंचित होती है।

नाटक का प्रारंभ कथावाचक के द्वारा कथा-प्रसंग के वाचन से होता है। देवलोक में ध्यान-मग्न भगवान विष्णु का एक बार सहसा ध्यान भंग हो जाता है। दिव्य-चक्षु से उन्होंने देखा

कि गंगा तट पर आत्महत्या को तत्पर उनका एक भक्त उन्हें स्मरण कर रहा है। भगवान तुरंत उस भक्त की सहायता के लिए अपने वाहन गरुड़ को पृथ्वी पर भेजते हैं। यह भक्त, विश्वामित्र का शिष्य गालव है, जो आठ सौ अश्वमेधी घोड़ों की गुरुदक्षिणा जुटाने में असमर्थ होकर निराशा से आत्महत्या करने से पूर्व भगवान विष्णु का स्मरण कर रहा था। गरुड़ उस भक्त की कथा-व्यथा जानकर उसे दानवीर ययाति के पास भेजते हैं। गालव ययाति के आश्रम में जाकर उनसे गुरुदक्षिणा के लिए आठ सौ अश्वमेधी घोड़ों की माँग करता है। वानप्रस्थाश्रमी राजा ययाति के पास इतने घोड़े नहीं हैं लेकिन उन्हें स्वयं को समस्त आर्यावर्त में सत्यवादी हरिश्चंद्र से भी 'महान सत्यवादी' और कर्ण से भी बड़ा 'दानवीर' कहलाने का मोह है। अपने आत्म सम्मान को बचाने और अपने द्वार से अभ्यर्थी को खाली हाथ न लौटने की परम्परा के निर्वाह के लिए कहता है कि, "सुनो गालव, मैं तुम्हें आठ सौ अश्वमेधी घोड़े तो नहीं दे सकता, पर मैं अपनी एक मात्र कन्या तुम्हें सौंप सकता हूँ। वह बड़ी गुणवंती युवती है। इसे पाकर कोई भी राजा तुम्हें आठ सौ अश्वमेधी घोड़े दे देगा।" माधवी के विलक्षण गुणों की चर्चा करते हुए ययाति कहता है कि इसके गर्भ से उत्पन्न होने वाला बालक चक्रवर्ती राजा बनेगा। इसे चिर कौमार्य का वरदान भी प्राप्त है। अतः ऐसे लक्ष्मणों वाली युवती को पाकर कोई भी राजा सहर्ष आठ सौ अश्वमेधी घोड़े दे देगा। दान में प्राप्त माधवी को लेकर गालव अश्वमेधी घोड़ों की तलाश में निकलता है। माधवी के अलौकिक गुणों की बातें सुनकर गालव सोचता है कि क्या माधवी के गर्भ से उत्पन्न होनेवाला उसका पुत्र भी चक्रवर्ती राजा बनेगा? माधवी को आठ सौ अश्वमेधी घोड़ों के बदले में राजा को सौंपने का अर्थ है माधवी को खो देना। वह महारानी बनेगी, गुरु दक्षिणा भी जुट जाएगी, पर उसे क्या मिलेगा? उसे माधवी को सदा के लिए खोना होगा। गालव अनेक प्रकार के संशयों, द्वंद्वं, स्थायर्जनित प्रश्नों से घिरता चला जाता है, तभी आकाशवाणी उसे सावधान करती है कि मुनि कुमार, ऐसा सोचकर तुम अपने गुरु और महाराज ययाति के साथ विश्वासघात कर रहे हो। देवलोक में सभी देवता तुम्हारे कर्तृत्व पर आँख लगाए हुए हैं। गालव और माधवी अश्वमेधी घोड़ों की तलाश में उत्तराखण्ड की ओर निकल पड़ते हैं। यात्रा के दौरान, वे दोनों एक दूसरे के प्रति आकर्षण और प्यार की भावना को महसूस करते हैं। घोड़ों की तलाश में वे दोनों सर्वप्रथम अयोध्या नरेश हर्यश्च के दरबार में पहुँचते हैं। अपने राज-ज्योतिषीद्वारा राजा हर्यश्च माधवी मे लक्ष्मणों की जाँच करवाकर उससे पुत्र लाभ (वसुमना) होने तक अपने रनिवास में रख लेते हैं और गालव को दो सौ अश्वमेधी घोड़े देते हैं। उत्तराखण्ड की यात्रा से लौटे हुए ययाति के मित्र मारीच ययाति के आश्रम से पहुँचकर उन्हें यह समाचार सुनाते हैं कि राजा हर्यश्च ने माधवी को महारानी बनाकर गालव को दो सौ अश्वमेधी घोड़े देना स्वीकार किया है। मारीच ययाति को समझाते हैं कि वे विश्वामित्र के पास जाकर अभ्यर्थना करें कि वे दो सौ घोड़ों से संतुष्ट हो जाएँ। इससे आपकी पुत्री माधवी का कल्याण होगा। वह राजा हर्यश्च की महारानी बनकर रहेगी। उसे शेष छह सौ घोड़ों के लिए किसी अन्य राजा के रनिवास में रहना न पड़ेगा। लेकिन ययाति संतान स्नेह के लोभ में पड़कर अपनी दुष्कीर्ति नहीं चाहते उनके लिए माधवी दान में दी गई वस्तु है। वे अपने मित्र मारीच को समझाते हैं कि विश्वामित्र ने जान-बूझकर गालव का दम्भ तोड़ने के लिए ऐसी असम्भव गुरु दक्षिणा माँगी है। वह चाहते थे कि गालव हाथ बाँध, क्षमा-याचना करें। लेकिन उन्होंने अपनी पुत्री माधवी को दान में देकर असंभव को संभव बना दिया है। तभी एक आश्रमवासी आकर समाचार देता है कि अश्वमेधी घोड़े विश्वामित्र के पास भेजे जा रहे हैं। ययाति समझ जाते हैं कि माधवी से राजा हर्यश्च का चक्रवर्ती पुत्र (वसुमना) की प्राप्ति हो गई है और गालव को दो सौ अश्वमेधी घोड़े दिए गए हैं।

गालव और माधवी शेष घोड़ों की तलाश में काशी नरेश दिवोदास के पास पहुँचते हैं। विलासी और कामी दिवोदास के रनिवास में पैंतीस रानियाँ हैं पर पुत्र-लाभ एक से भी नहीं। सत्रह बेटियों के पिता दिवोदास माधवी को देखते ही उस पर मुग्ध हो जाता है और माधवी के बदले में दो सौ अश्वमेधी घोड़े देने को तैयार होता है। तभी एक साधु आकर दिवोदास से कहता है कि मुनि राज भृगु ने उनके लिए एक यज्ञ सम्पन्न किया है। देवता गण उनसे प्रसन्न हैं और शीघ्र उन्हें पुत्र लाभ होगा। साधु वचन सुन, दिवोदास माधवी को अपने पास रखने के लिए राजी हो जाता है परंतु वह उन्हें धमकाता है कि यदि माधवी से चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति न हुई तो उन दोनों का काल कोठरी में बंद किया जाएगा। माधवी दिवोदास के रनिवास में पूरे एक वर्ष तक रहकर चक्रवर्ती पुत्र (प्रतर्दन) को जन्म देती है तथा वचनानुसार काशी नरेश से दो सौ अश्वमेधी घोड़े लेती है।

राजा गाधि ने अपना यज्ञ सम्पन्न होने के बाद ब्राह्मणों को एक हजार अश्वमेधी घोड़े दान में दिए हैं। ब्राह्मण उन घोड़ों को उत्तराखण्ड के उनके राजाओं को बेच देते हैं। शेष घोड़ों को लेकर जब वे वितस्ता नदी पार कर रहे थे तो नदी में जोरों की बाढ़ आती है और बहुत से घोड़े उसमें डूब जाते हैं। शेष बचे घोड़ों को खरीदने का काम विश्वामित्र स्वीकार करते हैं। अब उत्तराखण्ड में आठ सौ अश्वमेधी घोड़े नहीं हैं, गालव अपनी गुरु दक्षिणा कैसे जुटा जाएगा, इस विचार से चिंतित एक तापस विश्वामित्र से अनुरोध करता है कि वे गालव को ऋण मुक्त कर दें। परंतु विश्वामित्र अपने शिष्य के स्वाभिमानी स्वभाव को जान कर ऐसा नहीं करते। वे तापस को बताते हैं कि महत्वाकांक्षी गालव का दम्भ तोड़ने के लिए उन्होंने इतनी कठिन परीक्षा ली है। महत्वाकांक्षी लोगों में यदि दम्भ हो तो वह उनके विनाश का कारण बन जाता है।

काशी नरेश को पुत्र देकर माधवी अब उसी अनुष्ठानिक क्रिया से चीर कौमार्य प्राप्त करती है। गालव और माधवी शेष घोड़ों की खोज में भोजनगर के वृद्ध राजा उशीनर के यहाँ पहुँच जाते हैं। माधवी राजा उशीनर के साथ देश-देशान्तर घुमती हुई उन्हें रिझाती हुई पुत्रलाभ (शिवि) देती है, बदले में राजा उन्हें दो सौ अश्वमेधी घोड़े देता है। गालव और माधवी शेष दो सौ घोड़ों की तलाश में भटकने लगते हैं। खोज-यात्रा के दौरान, गालव एक दिन पाता है कि माधवी कुछ कहे बगैर उसे छोड़कर कहीं चली गई है। गालव माधवी के इस अचानक चले जाने से चिंतित हो जाता है और सोचता है कि वह उसे मंझधार में छोड़ गई है। माधवी विश्वामित्र के आश्रम में पहुँचती है और प्रस्ताव करती है कि 'ये छह सौ घोड़े आप ग्रहण करें और शेष दो सौ के लिए आप मुझे अपने पास रख ले. . . आपको भी मुझ से पुत्रलाभ होगा। वह स्पष्ट बताती है कि वह सबकी सेवा करेगी, एक परिचारिका की तरह! . . . आप गालव को ऋणमुक्त कर दें। मैं गालव से प्रेम करती हूँ। उसकी प्रतिज्ञा है। माधवी की प्रखरता, उसका अन्तरजगत-बहिर्जगत का ज्ञान यहाँ देखने योग्य है। विश्वामित्र के पूछने पर 'गालव से प्रेम करते हुए तुम मेरे साथ रहना चाहती हो?' माधवी कहती है 'हाँ महाराज! गालव से प्रेम करते हुए ही मैं तीन राजाओं के पास रह चुकी हूँ।' विश्वामित्र जानना चाहते हैं कि वह ऐसा प्रस्ताव लेकर क्यों आई है वह कहती है कि गालव बहुत ही दुखी है। गुरुदक्षिणा जुटा न पाने पर वह आत्महत्या कर लेगा। माधवी के विचार-आचार से अभिभूत हुए विश्वामित्र कहते हैं 'मैंने गुरुदक्षिणा पा ली माधवी। मैं गालव का दम्भ तोड़ना चाहता था, तुमने मेरा दम्भ तोड़ दिया. . . । आश्रम में प्रवेश करो, माधवी।' माधवी के विश्वामित्र के आश्रम में रहने के कारण गालव अपनी गुरुदक्षिणा जुटाने में यशस्वी हुआ। वह अपनी परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया। चारों ओर गर्व और हर्ष का वातावरण है। ययाति, विश्वामित्र सब गालव पर कृपालु है। समस्त आर्यावर्त में प्रकाश-स्तंभ की तरह चमकते

ययाति का यश बढ़ गया है और सबको अब गालव 'सच्चा साधक' नजर आता है। ययाति का आश्रम राजसी ठाट बाट का परिचय दे रहा है, वहाँ माधवी स्वयंवर और गालव के 'दीक्षान्त समारोह की धूम है।' 'माधवी स्वयंवर' में वे राजा भी आए हैं जिनके रनिवास में माधवी रह चुकी है। माधवी के गर्भ से उत्पन्न बच्चों को भी वे लाए हैं। 'माधवी को प्रलोभन देने के लिए प्रार्थियों की पाँत में बैठा राजा अपने सामने माधवी के पुत्र को खड़ा कर देगा, यह सोचकर कि अपने पुत्र को देखकर माधवी उसकी ओर खिंची चली जाएगी।' माधवी को लेकर गालव चिंतित है। वह स्वयंकर से पहले माधवी को मिलना चाहता है। गालव के गुरु ऋण चुकाने की इस प्रक्रिया में बूढ़ी हो चली माधवी को स्वीकार करने में वह हिचकिचाने लगता है। गुरु की भोग्या कहकर धर्म और नैतिक मर्यादाओं के नाम पर वह उससे जान छुड़ाना चाहता है। माधवी उनकी खोखली नैतिकता और मन में छुपे स्वार्थ को पहचान लेती है। वह उनसे प्रेम करती है; इसीलिए वह गालव को सुखी एवं स्वतंत्र देखना चाहती है। 'तुम निश्चिन्त हो जाओ, गालव, तुम सचमुच स्वतंत्र हो। मैं तुम्हारी पत्नी नहीं बन सकती। शरीर की शिथिलता तो दूर हो सकती है, गालव मैं अनुष्ठान करके फिर से युवती बन सकती हूँ, पर अब मैं दिल से तो युवती नहीं हूँ ना। मैं तो वह माँ हूँ जिसकी गोद भरती गई और खाली होती गई। अब तो संतान धारण करने से ही मुझे डर लगता है। संतान धारण करने का मेरे लिए केवल एक अर्थ है, अपने बच्चे को खो देना। ऐसी स्त्री तुम्हारे किस काम की।' माधवी यदि अनुष्ठान से पुनः कौमार्य प्राप्त कर ले तो गालव उसे पाने को लालायित है। परंतु माधवी को अपने प्रिय का यह घोर, आत्मसीमित एवं स्वार्थ रूप स्वीकार नहीं है। वह इसे गालव की छिछली भावुकता मानती है। यौवन और रूप तो मिल जाएँगे, पर वह अपने इस दिल का क्या करेगी जो छलनी हो चुका है। अतः वह उसे वहीं छोड़ विशाल दुनिया में अपनी सही जगह और पहचान ढूँढ़ने निकल पड़ती है।

“माधवी” नाटक की नाट्यानुभूति नारी जीवन की चिरकालीन विसंगतियों को उजागर करने से सम्बंधित है। विभिन्न पुरुषों द्वारा एक नारी को भोगने, उसका शोषण करने और अंततः त्याग देने की यह प्रवृत्ति नाटककार भीष्म साहनी के संवेदनशील मस्तिष्क पर चोट करती है। और उनकी यह अनुभूति इस नाटक द्वारा व्यक्त होती है। नाटक की कथावस्तु और कथ्य के सम्बंध में नाट्यालोचक नर नारायणराय ने लिखा है- “एक नाटकीय स्थिति से नाटक शुरू होता है और दूसरी नाटकीय स्थिति में समाप्त। कथ्य के कई स्तर बनते हैं। निष्ठा, प्रेम, कर्तव्य और कामना के विभिन्न कोनों से उलझे मानव मन की सच्चाइयों की द्वन्द्वात्मक स्थितियों के निर्माण में नाटककार काफी सफल रहा है”। “माधवी” नाटक के द्वारा नाटककार की जिस नाट्यानुभूति की अभिव्यक्ति हुई है, वह नाटक के आरंभ में कथावाचक के संवाद द्वारा स्पष्ट हो जाती है- ‘धर्म ग्रंथों में मनुष्य के बहुत से गुण गिनाए हैं, पर कहा गया है कि कर्तव्य पालन समसे बड़ा गुण है। जो मनुष्य कर्तव्य परायण है, वही सच्चा साधक है। . . . तो देवियों और भद्र पुरुषों, आज हम आपकी इसी कर्तव्यपरायणता की एक और कथा सुनाते हैं।’ सम्पूर्ण नाटक विवेचन से स्पष्ट होता है कि नाटक के सभी पात्र इसी कर्तव्यबोध से परिचालित हैं और अपनी-अपनी मर्यादाओं से बंधे हुए भी। ययाति, गालव, विश्वामित्र और माधवी सभी। पिता दानवीर कहलाने के लिए, प्रेमी गुरु-दक्षिणा चुकाकर ऋषि बनने के लिए, तीनों राजा चक्रवर्ती पुत्र पाने के लिए और विश्वामित्र शिष्ट गालव का दम्भ तोड़ने के लिए माधवी का इस्तेमाल करते हैं। परंतु कर्तव्य को धर्म मानकर पुरुष का साधन बन जानेवाली माधवी दुनिया की नजर में त्यागमयी महान नारी नहीं कुलटा बन जाती है। निःसंदेह नाटक के इस कथा बीज में पर्याप्त रोचकता और संभावना है।

गालव की गुरु-दक्षिणा की पूर्ति के लिए साधन के रूप में माधवी का अपूर्व त्याग उसके व्यक्तित्व को उज्ज्वल बनाता है, जबकि राजाओं द्वारा माधवी का शोषण नारी की चिरकालीन व्यथा को अभिव्यक्ति देता है। आज भी माधवी जैसी कई नारियों का व्यक्तिगत जीवन इन सामाजिक मान-मर्यादाओं और पारिवारिक संघर्षों के बीच मिट सा गया है, किंतु शोषित होने के बावजूद-माधवी की एक चारित्रिक मर्यादा है, उसके व्यक्तित्व की एक अलग गरिमा है; जो उसके निश्चल, त्याग, समर्पित प्रेम और उन्मुक्त आत्म-बलिदान से उत्पन्न होकर उसके प्रति सहज मानवीय संवेदना जगाता है। नाटक की यही मूल नाट्यानुभूति माधवी के त्याग बलिदान और समर्पित प्रेम को उजागर करती है और एक स्त्री के रूप में उसके वैयक्तिक और सामाजिक शोषण का तिरस्कार करने के लिए प्रेरित भी। नेमिचंद्र जैन के मतानुसार, कथानक में नाटकीय स्थितियों और उससे पैदा होने वाली विडंबनाओं के लिए बहुत गुंजाइश है. . . कुल मिलाकर इसमें मानवीय संबंधों की विषमताओं और करुणा का ऐसा स्पर्श है जो आकर्षित करता है।

‘माधवी’ नाटक महज एक साहित्यिक कृति ही नहीं है बल्कि पुरुष जाति के ‘विकल्प’ और स्त्री-जाति के ‘संकल्प’ का ऐसा इतिहास है, जो काल्पनिक पुराणों के इक्के-दुक्के यथार्थों के बीच फंसा पड़ा था। भीष्म साहनी ने ‘माधवी’ के बहाने नारी के मूक अतीत को इतिहास के एक जीवित अध्याय के रूप में प्रस्तुत किया है। “‘माधवी महाभारत कालीन ऐतिहासिक पौराणिक पात्र के रूप में नहीं अपितु आधुनिक परिप्रेक्ष्य में भी अपने चरित्र की सार्थकता सिद्ध करती हुई हमारी सोच को पारंपरिक बंधनों से मुक्त कर चारित्रिक विघटन द्वारा रेखांकित करती है और हमारी मानसिकता को चीरते हुए नैतिक और वैचारिक उत्थान की ओर इशारा भी करती है, इसलिए यह नाटक समकालीनता को व्यक्त करने वाला अतितोन्मुखी नाटक है।”

इस प्रकार इस नाटक की कथावस्तु मौलिक तथा रोचक है। नाटक की विभिन्न प्रस्तुतियों में चरित्र के अलग-अलग पक्ष पर नवीनता दिखाई पड़ती है। इस नाटक में नाटककार के अलावा कथाकार भीष्म साहनी का योगदान ही अधिक है। नाटक में रसयोजना, आदि, मध्य और अंत स्पष्ट और सजीव है। नाटक का शीर्षक विषयानुकूल तथा भावानुकूल है। महाभारत की पौराणिक कथा को कथावस्तु के रूप में लेकर नाटककार उसे सही तरह से रंगमंच की दृष्टि से दिखाने में सफल हुआ है।

माधवी में चरित्रांकन :

भीष्म साहनी ने ‘माधवी’ में महाभारत के एक प्रसंग की नायिका ‘माधवी’ के माध्यम से पुरुष-प्रधान समाज में स्त्री की त्रासदी के सत्य को अनावृत्त किया है। आदर्शों, मूल्यों और कर्तव्यपरायणता की ओट में स्त्री का शोषण होता है, उसे वस्तु के रूप में पुरुष अपनी ऐषणाओं एवं महत्त्वकांक्षाओं की तृप्ति के लिए प्रयुक्त करता है। पुरुष सदैव से दम्भी, हठी और आत्मकेंद्रित रहा है। पिता, पति, गुरु, प्रेमी हर रूप में, हर युग में वह उसको अपने मनोरत का निमित्त बनाता रहा है। भीष्म साहनी स्त्री को पुरुष का असली चेहरा दिखाना चाहते हैं। परम्परा और समाज के कारण माधवी शोषित होती है। गालव के लिए कर्तव्य की बलिवेदी पर चढ़कर वह उसे भी त्याग देती है, क्योंकि वह भी लोलुप, आत्मकेन्द्रित और संवेदना-शून्य था। माधवी स्वयंवर स्थल से प्रस्थान कर परंपरा का अंग बनने की अपेक्षा अपनी मुक्ति का रास्ता चुनती है। भीष्म साहनी स्त्री के अंदर स्वयं अपने लिए विवेक संपन्न निर्णय लेने की शक्ति पैदा करने के हिमायती हैं।

माधवी :

क्रम की दृष्टि से 'माधवी' भीष्म साहनी का तीसरा नाटक है। पौराणिक कथानक का आधार बनाकर इस नाटक की सृष्टि की गई है। इस नाटक में 'माधवी' एक पौराणिक पात्र है और यही इस नाटक की केंद्रीय पात्र भी। 'माधवी' दानवीर ययाति की पुत्री है। वह अपने पिता के साथ आश्रम में रहती है। जब पिता ययाति उसे गालव का दान में दे देते हैं तो वह गालव के पीछे चली जाती है। वह कर्तव्य परायण, संवेदनशील नारी है। इसी वजह से गालव की प्रतिज्ञा पूर्ति के लिए वह तीन राजाओं के पास रहकर, तीन पुत्रों को जन्म देकर छह सौ अश्वमेधी घोड़े जुटाने में सहयोग देती है। वह गालव से प्रेम करती है। माधवी को मालूम है कि वह गालव के लिए गुरु दक्षिणा जुटाने का साधन मात्र है। गालव माधवी के लिए क्रूर नियति बनकर आता है। वह बार बार मुक्त होना चाहती है लेकिन क्रूर नियति उसे गेंद की तरह इधर से उधर उछालती है। वह तीन बार मातृत्व से वंचित होती है, "अपने बच्चे पर भी उसका कोई हक नहीं मेरी कोख से जन्म लेनेवाला बच्चा भी मेरा नहीं, राजा का है।" गालव की प्रतिज्ञा पूरी हो जाने के बाद माधवी उसे अपनाना चाहती है, लेकिन गालव उसे फिर से अनुष्ठान करके रूप-यौवन प्राप्त करने को कहता है। यह सुनकर माधवी विचलित हो जाती है। गहन प्रेम, अवसाद, खिन्नता, उदासी और सर्वान्तिक वेदना की बहती हुई सूक्ष्म लय के बीच माधवी खुद को अक्सर एक व्याकरणहीन परिवेश में पाती है। माधवी गालव से कहती है- "तुमने मेरे यौवन की आहुति देकर अपनी गुरु-दक्षिणा जुटाई है।" माधवी अपने अनुभव के केंद्र से अर्थ का नया आकाश पहचानती है, लेकिन गालव इस आहुति के बाद बचे हुए माधवी के स्थूल शरीर को स्वीकार नहीं कर पाता। जिस गालव के लिए माधवी बार-बार माँ बनी, अयोध्या, काशी और भोजनगर का राजसुख छोड़ा-उसकी गुरु-दक्षिणा के लिए बार-बार अपने मातृत्व की हत्याकर चिरकुमारी होने के लिए अनुष्ठान किया, वही गालव स्वयंवर के आयोजन से पहले माधवी से विमुख हो गया। वह उसे एक ढल चुकी देह लगने लगी-अधेड़ उम्र की एक अनाकर्षक महिला, जिसके पास उदासी के सिवा और कुछ भी नहीं। जबकि माधवी गालव से उसकी जमीन पर मिलना चाहती है। उसकी जमीन अर्थात् सम्पूर्ण आर्य संस्कृति की कर्तव्यपरायण शस्य-श्यामला धरा पर। इसलिए वह अनुष्ठान करके अपना पूर्व-चिर-कौमार्य रूप नहीं पाना चाहती। माधवी कम-सौंदर्य को दैहिक सौष्ठव का मुखपेक्षी नहीं मानती, इसलिए वह गालव से एक युवती नहीं, उस माँ के रूप में मिलती है, जिसकी गोद भरती गई और खाली होती गई है।

'माधवी' में सारी धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, वैयक्तिक व्यवस्था के बीच सम्पूर्ण अनुष्ठान के साथ माधवी नारी देह की, रूप और सौंदर्य की उस विडम्बना और यातना को सहती चली जाती है और पुत्र-लाभ कराती, बच्चों से अलग होती, टूटती-बिखरती चली जाती है क्योंकि उसे विश्वास है कि अन्त में गालव उसे मिलेगा। भविष्य की मुक्ति और प्रेम की आकांक्षा में वह अपने चारों ओर मौजूद दृढ़ को तोड़ती चली जाती है, पर वह न स्वयं को छलती है, न गालव को। गालव का असली रूप प्रकट होने पर माधवी उसे कहती है- 'तुमने (गालव ने) केवल एक ही व्यक्ति से प्यार किया है और वह अपने आपसे। पर मैं साधना और निष्ठावाली व्यक्ति हूँ। तुम भी गुरुजनों जैसे ही निकले गालव। तुम सचमुच एक दिन ऋषि गालव बनोगे।' अंत में माधवी ऐसे जगह जाना चाहती है जहाँ ययाति जैसे कर्तव्यपरायण दानव और गालव जैसे कर्तव्यपरायण राक्षस नहीं होंगे।

चिरकाल से नारियों की पूजा और शोषण की कथा समान रूप से चली आई है। आज का समाज भी ऐसे विचारों से मुक्त है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। माधवी जैसी कई नारियों का व्यक्तिगत जीवन इन सामाजिक मान-मर्यादाओं और पारिवारिक संघर्षों के बीच मिट गया है। किंतु शोषित होने के बावजूद माधवी की एक चारित्रिक मर्यादा है, उसके व्यक्तित्व की एक अलग गरिमा है, जो उसके निश्चल त्याग, समर्पित प्रेम और उन्मुक्त आत्म बलिदान से उत्पन्न होकर उसके प्रति सहज मानवीय संवेदना जगाता है। “तुम क्या समझते हो, गालव, जिस व्यक्ति को मैं रोम-रोम से प्रेम करती रही हूँ, उसके पल्ले मैं एक बुढ़िया को बाँध दूँगी? मेरा भी तुम्हारे प्रति कोई कर्तव्य है। प्रेम का भी तो एक कर्तव्य होता है।” इस कथन में माधवी का त्याग, समर्पण, बलिदान और अन्तर्द्वन्द एक साथ मुखर हो गए हैं। एक ओर नारियाँ को सम्मान देना और दूसरी ओर उनके शोषण करने की प्रवृत्ति जैसी सामाजिक प्रवृत्ति की नाटककार भीष्म साहनी की अनुभूति को जगाती है। गालव की गुरु दक्षिणा की पूर्ति के लिए साधन के रूप में माधवी का अपूर्व त्याग, उसके व्यक्तित्व को उज्ज्वल करता है। जबकि राजाओं द्वारा माधवी का शोषण नारी की चिरकालीन व्यथा को अभिव्यक्ति देता है। एकाधिक पुरुषों द्वारा नारी शोषण की यह प्रवृत्ति और माधवी की चारित्रिक दृढ़ता नाटक की मूल भाव-भूमि है। मन में, कचोटती इस अनुभूति को त्यागमयी माधवी के चरित्र द्वारा भीष्म साहमी ने एक सटीक अभिव्यक्ति दी है। माधवी महाभारत कालीन ऐतिहासिक पौराणिक पात्र के रूप में नहीं अपितु आधुनिक परिप्रेक्ष्य में भी अपने चरित्र की सार्थकता सिद्ध करती हुई हमारी सामाजिक सोच को पारंपरिक बंधनों से मुक्त कर चारित्रिक विघटन द्वारा नारी मुक्ति को रेखांकित करती है और हमारी मानसिकता को चिरंतं हुए नैतिक और वैचारिक उत्थान की ओर इशारा करती है।

ययाति :

ययाति महाभारत के प्रसिद्ध पात्र हैं, जो राजघाट से विमुख होकर आश्रमवासी हो चुके हैं। वह माधवी के पिता हैं। इहलोक बना लिया है, अब परलोक की चिंता है। महाराज ययाति अपना राज-पाट त्यागकर वानप्रस्थ आश्रम में अपनी पुत्री माधवी के साध रहे हैं। ययाति बहुत बड़े दानवीर माने जाते थे। ‘वानप्रस्थ’ में रहने के बावजूद उनका राजसी ठाट नहीं गया है। वह हमेशा अपनी प्रशंसा सुनना चाहता है। उसके मंत्री भी उनके इस स्वभाव से परिचित है। “यहाँ प्रशंसा करनेवाले दरबारी नहीं हैं, जो सारा वक्त राजा के आसपास घूमते रहे, इससे राजा के अहं की तुष्टि होती रहती है। प्रशंसा से राजा को अपार सुख मिलता है। यहाँ आपको वह सुख नहीं मिलता।” ययाति को अहं के साथ यश की भी चिंता है। खुद ययाति स्वीकार करते हैं कि- “ययाति राजपाट त्याग देने के बाद भी हर बात में सबसे आगे हैं। ययाति का आश्रम अभी भी उसकी राजधानी के समान है।” ययाति दान भी ऐसा करना चाहते हैं कि सबकी आँखे फट जाए। वह स्वयं को दानवीर कर्ण एवं हरिश्चंद्र की श्रेणी में न केवल खड़ा करना चाहता है अपितु उन्हें भी मात करके अपने आपको अमर दानी घोषित करना चाहता है। वह जब सिंहासन पर बैठा था तो उसने मन ही मन शपथ ली थी कि वह इतना दान देगा कि लोग कर्ण को भूल जाएँगे और एक दिन दान-दक्षिणा के प्रत्येक प्रसंग में केवल ययाति का नाम लिया जाएगा। अपना नाम इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में लिखवाने की महत्त्वाकांक्षा से ययाति इस सीमा तक परिचालित था कि वह अपनी एक मात्र पुत्री माधवी को भी दान में देने से नहीं हिचका। जब मुनि कुमार गालव अपने गुरु विश्वामित्र को दक्षिणा में देने के लिए आठ सौ अश्वमेधी घोड़ों की माँग करता है, तो उसके मन में एक बात बार-बार कौंधती है, “कर्ण दानवीर है, युधिष्ठिर उदारमना है, हरिश्चंद्र सत्यवादी है, पर ययाति. . . ?” ययाति ने अपने मन में शपथ ली थी कि- “मैं इतना दान

दूँगा, इतना दान दूँगा कि लोग कर्ण को भी भूल जाएँगे।” ययाति आठ सौ अश्वमेधी घोड़ों के बदले माधवी को दान में देते हैं। गालव को कहते हैं- “राज ज्योतिषियों ने माधवी के लक्षणों की जाँच की है, उसके गर्भ से उत्पन्न होनेवाला बालक चक्रवर्ती राजा बनेगा। सुना मुनिकुमार ? ऐसे लक्षणोंवाली युवती को पाकर कोई भी राजा तुम्हें छोड़े दे देगा।” माधवी को दान देते वक्त तथा देने के बाद भी ययाति को किंचित पश्चाताप नहीं हुआ। अपनी बेटी की दुर्गति से वह तनिक भी विचलित नहीं हुआ बल्कि वह तो लगातार यह जानना चाह रहा था कि उसके इस अपूर्व कृत्य की लोगों में क्या प्रतिक्रिया हो रही है- “बताओं तो, उत्तराखण्ड में लोग मेरे दान-दक्षिणा के संबंध में क्या सोचते हैं ? वहाँ पर पता तो चल गया होगा। वे क्या कहते हैं कि दानवीर ययाति ने एक मात्र पुत्री को सौंप दिया ?” ययाति को विश्वास है,- “वह दिन आएगा जब दान-दक्षिणा के प्रत्येक प्रसंग में केवल ययाति का नाम लिया जाएगा।”

ययाति यश-लिप्सा और प्रशंसा-तृष्णा का इतना भूखा है कि वह गुरु विश्वामित्र से भी अपने लिए प्रशंसा स्तबकों को बटोरना चाहता था। यही कारण था कि वह अपने मंत्रियों के परामर्श को अस्वीकार करके विश्वामित्र से ऋण-मुक्ति की याचना करने नहीं गया, क्योंकि इससे उसकी यश-कीर्ति को आँच लगने की संभावना थी- “क्या अयोध्या नरेश चाहते हैं कि मैं विश्वामित्र से कहूँ कि अपनी गुरु-दक्षिणा का हठ छोड़ दे और गालव से कहूँ कि अपनी प्रतिज्ञा छोड़ दे ताकि ययाति की बेटी पटरानी बन सके ? क्या अयोध्या नरेश चाहते हैं कि देश भर में मेरे नाम पर कीच पोता जाए ? . . . वह चाहते हैं कि मैं उनके सुख के लिए अपने कर्म से गिरूँ ?” ययाति पिता के रूप में, कर्तव्य को निभाने में असफल हो जाते हैं, क्योंकि छोड़े और पुत्री को एक समान समझनेवाला पिता नहीं कहलाता। परलोक की चिन्ता और यशोकामना से परिचालित ययाति मात्र का चित्रण यथार्थ और व्यंग्यात्मकता से किया गया है।

गालव

गालव ऋषि विश्वामित्र का शिष्य है। वह अपने हठीले स्वभाव, जिद की साकार मूर्ति है। शिक्षा-दीक्षा होने के बाद वह गुरु के मना करने पर गुरु-दक्षिणा माँगने का हठ करता है। गुरु विश्वामित्र क्रोध, आवेश में आठ सौ अश्वमेधी घोड़े माँग लेते हैं, जिसकी खोज में भटकता गालव राजपाट से निवृत्त आश्रमवासी, दान-महिमा से प्रतिष्ठित ययाति के पास जाकर आठ सौ अश्वमेधी घोड़े माँगता है। ययाति अपनी एकमात्र पुत्री माधवी को उसे दान देकर कहता है कि माधवी के बारे में एक ज्योतिषी ने बताया है कि इससे जो पुत्र प्राप्त होगा वह चक्रवर्ती राजा होगा। तुम माधवी को ले जाकर किसी भी राजा को माधवी के बारे में कह दो वह तुम्हें आठ सौ अश्वमेधी घोड़े दे देगा। गुरु-दक्षिणा में आठ सौ अश्वमेधी घोड़े देने के प्रण से भी गालव डिगना नहीं चाहता, इसमें उसकी हठधर्मिता है और यह काम वह माधवी के जरिए करता है। माधवी जिस गावल से प्रेम करती है, वही गालव माधवी को अपनी गुरु-दक्षिणा की पूर्ति के लिए तीन राजाओं के रनिवास में रखकर अपने लिए निर्द्वंद्व भाव से छह सौ अश्वमेधी घोड़े जुटाता है। ‘गालव’ शब्द का अर्थ ही होता है- निचोड़नेवाला। पूरे नाटक में गालव के कारण ही माधवी का युवा नारीत्व और कुँवारापन अयोध्या के राजा हर्यश्च, काशि के दिवोदास, गांधार के कुशीनगर द्वारा तो निचोड़ा जाता है, इसके अलावा गालव के विद्यागुरु विश्वामित्र भी माधवी की देह का काम सुख लूटकर कृत्यकृत्य होते हैं। जब-जब माधवी उसकी कर्तव्य-पूर्ति का साधन बनने से इनकार करती हुई कहती है- “क्षमा करो गालव। मैं सचमुच बड़ी दुर्बल हूँ। मैं स्वयं अपनी दुर्बलता पर लज्जित हूँ। चलो गालव, जहाँ ले चलोगे, चलूँगी। तुम्हीं मेरे भाग्य हो, गालव। तुम्हीं

मेरी नियति हो।” तब-तब गालव उसे अपनी स्थिति की याद दिलाते हुए इस कर्म के लिए-प्रेरित करता है। माधवी गालव से प्रेम करती है, इसलिए वह गालव के लिए कुछ भी करने के लिए तैयार है, लेकिन गालव के लिए “माधवी को पाने का अर्थ है, चक्रवर्ती राजा तक बन जाने की संभावना। कैसी विडम्बना है माधवी मेरे जीवन में साधक बनकर आई है, उसके द्वारा मैं गुरु-दक्षिणा का दायित्व पूरा कर सकता हूँ. . . उसी के द्वारा मैं चक्रवर्ती राजा बन सकता हूँ।”

गालव की गुरु दक्षिणा पूर्ति की महत्त्वाकांक्षा ने उसके अंदर का वह मानवीय गुण तिरोहित कर दिया है कि जिसके कारण वह माधवी की वेदना के प्रति संवेदनशील होता। गालव सचमुच माधवी के लिए क्रूर नियति बनकर आया है। माधवी शेष दो सौ घोड़ों के लिए गुरु विश्वामित्र के यहाँ रहने को विवश हो जाती है। वही गालव अपनी प्रतिज्ञा पूर्ति के बाद माधवी को स्वीकार करने से सिर्फ इसलिए इनकार कर देता है कि उसकी देह ढल चुकी है। गालव के स्वार्थी, हठीले व्यक्तित्व को व्यंग्यात्मक तथा यथार्थता के साथ उजागर किया गया है।

गालव स्वार्थवश माधवी के प्रति आकर्षित है, वह उसे खोना नहीं चाहता, इसलिए नहीं कि वह उसे प्रेम करता है, बल्कि इसलिए कि वह रूपवती और चक्रवर्ती राजा को जन्म देने के शुभ लक्षणों से सम्पन्न है। माधवी की अन्नवेदना से उसे कोई सरोकर नहीं है। वह इसे उसकी भावुकता और दुर्बलता मानता है। पहली बार दो सौ घोड़े पाकर वह आनंदतिरेक से भर जाता है, जब माधवी अपने पुत्र वसुमना का स्मरण करती है तो वह कहता है- “उसे तुम अपना बच्चा क्यों समझती हो माधवी। तुमने तो राजा को एक राजकुमार जुटाया है, बस। वही हमारा अनुबंध था।” गालव उस स्त्री की मनःस्थिति नहीं समझ सकता जो पहली बार माँ बनी हो और उसे अपनी गोद सूनी कर देनी पड़ी हो। वह हर समय अपनी गुरु-दक्षिणा के बारे में ही सोचता है। गुरु-दक्षिणा पूर्ण हो जाने के बाद स्वयंवर के समय वह माधवी के लिए व्याकुल है। उसकी व्याकुलता स्वार्थवश है। उसे लगता है कि कहीं माधवी ने किसी राजा को चुना तो? पर जब वह शिथिल अंगोवाली अस्त-व्यस्त माधवी को देखता है तो गिरगिट की तरह रंग बदलता है। वह माधवी को देख टिठका रह जाता है। उसे आश्चर्य होता है कि चिरकौमार्य का वर प्राप्त माधवी बूढ़ी कैसे हो गई? उसने क्यों यौवन का अनुष्ठान नहीं किया? माधवी अनुष्ठान नहीं करना चाहती। उसका मानना है कि वह गालव से अपना असली चेहरा नहीं छिपा सकती। उसने तो जिसे चाहा, चुन लिया है, फिर स्वयंवर कैसा? माधवी की बातों और रूप से गालव घबरा जाता है और उसका असली चरित्र सामने आता है। “महाराज ने स्वयंवर रचा है, बड़े-बड़े योग्य राजा यहाँ पधारे हैं। मैं अकिंचन. . . मैं तुम्हारे मार्ग में बाधा नहीं बनना चाहता।” उसके कई बहानों में एक बहाना यह भी है कि- “जो स्त्री मेरे गुरु के आश्रम में रह चुकी है, उसे मैं अपनी पत्नी कैसे मान सकता हूँ।” माधवी गालव की आंतरिकता का समझ उसे मुक्त कर देती है।

संपूर्ण नाटक में माधवी के त्याग एवं-गालव के निहित स्वार्थ की अन्धता का ही आभास मिलता है। आत्मा-केंद्रिता व्यक्ति को किस प्रकार स्वार्थी एवं संवेदनहीन कर देती है, गालव उसी की ओर दृष्टिपात करता है। उसकी संवेदनहीनता की पराकाष्ठा तो तब होती है जब माधवी की करुण स्थिति से द्रवित होने के बजाय उसकी स्त्रियोचित दुर्बलता एवं मातृत्व की प्रबलता के कारण उसकी भर्त्सना करने से भी नहीं चूकता- “मैं नहीं जानता था कि संतान पैदा हो जाने पर, तुम इतनी दुर्बल हो जाओगी। इसीलिए शायद स्त्रियाँ जोखिम के काम नहीं कर सकती, किसी बड़े काम का दायित्व वहन नहीं कर सकती।”

माधवी की कर्तव्य-निष्ठा, आस्था, गुरु-भक्ति, पक्की-लगन, महत्त्वाकांक्षा की दुहाई, विश्वामित्र, ययाति, माधवी से लेकर स्वयं गालव ने भी दी है पर कर्तव्यपरायणता का जो स्वरूप प्रस्तुत हुआ है उसके औचित्य की सीमा तो तब उभर कर आती है, जब वह अकेली निस्सहाय एवं अपने लिए इस्तेमाल हो रही माधवी के दुःख की चिंता किए बगैर उसे समझाता है कि दुःख में भी कर्तव्य को अपनी विशिष्टता नहीं खोनी चाहिए तथा वचनों को निष्ठा एवं दृढ़ता के साथ ही निभाना चाहिए। दूर-दूर कहीं भी माधवी के अपूर्व त्याग के लिए कृतज्ञता नहीं है, उसकी कुशलता की कामना नहीं है, केवल अपनी ही चिंता है और माधवी को लेकर संदेह है, दुर्भावना है।

विश्वामित्र

विश्वामित्र गालव के गुरु हैं। वे अपने उग्र स्वभाव एवं स्वाभिमान के कारण अपने शिष्यों एवं अन्य लोगों में विशेष प्रचलित है। उनका शिष्य गालव महत्त्वाकांक्षी, दम्भी एवं हठी है। उसी के दम्भ को दूर करने के लिए विश्वामित्र ने उसे आठ सौ अश्वमेधी घोड़ों की गुरु-दक्षिणा जुटाने की कठोर परीक्षा में डाला है। किंतु यदि मात्र इतना ही उनका प्रयोजन होता तो वे आर्यावर्त में घोड़ों के निःशेष हो जाने पर स्वयं गालव की असमर्थता का अनुमान कर उसे क्षमा करके ऋण-मुक्त कर सकते थे। इसके अतिरिक्त, उन्हें यह भी ज्ञात था कि उनके इस महायज्ञ में होम होनेवाला व्यक्ति दम्भी गालव न होकर एक निर्दोष युवती माधवी है। इतना सब कुछ जानते-बूझते भी वे इस प्रतीक्षा में थे कि गालव स्वयं आकर क्षमा याचना करेगा, तभी वे उसे ऋण-मुक्त करेंगे। उनके इस व्यवहार से तो यही प्रतीत होता है कि अपने शिष्य की ही भाँति कहीं उनमें भी दम्भ विद्यमान है, वे कहीं गालव की हेठी करके ही अपना अहं तुष्ट करना चाहते हैं क्योंकि यदि गालव को वे उसके हठ के लिए दण्डित भी करना चाहते हैं तो उसकी भी कोई सीमा तो होनी चाहिए। निश्चितरूप से वे गालव की गहरी निष्ठा एवं पक्के धुन की परीक्षा लेना चाहते थे, क्योंकि उनके अनुसार कंचन आग में तपकर ही सोना होता है। लेकिन क्या इस प्रक्रिया की ज्वाला में होम होती माधवी की असहायता, विवशता, उन्हें दिखाई नहीं देती ? यदि उनमें गुरु की कठोरता से हटकर कुछ मानवीय कोमल गुण भी होते तो वे निःसंदेह गालव को बहुत पहले ही ऋण-मुक्त कर देते; पर यहाँ शिष्य गालव हठी है, तो गुरु उससे भी अधिक हठी। दोनों का आत्म-सम्मान एक दूसरे के लिए चुनौती है और इसी अहंनिष्ठा एवं आत्मसम्मान के कारण दोनों ही अपराजेय है, अपने-अपने व्यवहार के लिए बाध्य है।

‘माधवी’ के पात्रों की सार्थकता पर टिप्पणी करते हुए भूपेंद्र कलसी ने लिखा है- ‘‘भीष्म साहनी के नाटकों के पात्र मिथ्या भावातिरेक और यथार्थ प्रतिक्रियाहीनता से सम्पन्न नहीं है, इसलिए उनका व्यवहार, प्रतिक्रिया नाटककार के कथ्य विचार एवं मानवीय संवेदनाओं का सृजन एवं सम्प्रेषण करते हैं, साथ ही युग यथार्थ का उद्घाटन भी। ‘माधवी’ में चार प्रमुख पात्र हैं- ययाति, गालव, विश्वामित्र और माधवी। सभी पात्रों की मानसिकता, चारित्रिक विशिष्टता और सामाजिक स्थिति मेल नहीं खाती। परिणामतः निरन्तर एक प्रच्छन्न विरोध बना रहता है। परस्पर विरोध में पात्र कार्य व्यापार को विकसित तो करते ही हैं, मूल्यों आदि के निर्माण की प्रक्रिया को भी निर्दिष्ट करते हैं।’’



माधवी की रंगमंचीयता तथा संवाद

संवाद :

भीष्म साहनी के नाटकों की संवाद सृष्टि के संदर्भ में स्वीकारना होगा कि सुगठित संवादों से कृति में एक विशिष्ट वातावरण की गरिमा के साथ स्पन्दनपूर्ण रस जीवन में परिप्लावित होने लगता है। संवादों में व्यापक सामान्य बोलचाल की गद्य भाषा का व्यवहार नवीन यथार्थवादी रंगमंच की प्राथमिक आवश्यकता है। इससे रंगमंच की सृष्टि की सृष्टि को नित्य प्रति के जीवन परिवेश के सानुरूप ढालने में नाटकार को अपेक्षित सहायता मिलती है, रंगमंच की अभिव्यक्ति में अभीष्ट स्वाभाविकता आ जाती। संवादों के मुख्यतः दो कार्य होते हैं-कथानक को गति देना और पात्रों का चरित्रांकन करना। भीष्म साहनी के सभी नाटकों में संवाद इसी के अनुरूप प्रयुक्त हुए हैं।

‘माधवी’ नाटक में ‘गालव’ और ‘माधवी’ के बीच का संवाद भी इतना ही स्वाभाविक है।

“गालव : तुम क्या चाहती हो माधवी ?

माधवी : मैं क्या चाहूँगी ? मेरे चाहने से क्या होता है गालव ? मैं तो तुम्हारी गुरु-दक्षिणा का निमित्त मात्र हूँ।

गालव : यह तुम क्या कह रही हो, माधवी ? तुम दानवीर ययाति की कन्या हो। जिस बालक को तुम जन्म दोगी, वह चक्रवर्ती राजा बनेगा, तुम्हें देवताओं का वरदान प्राप्त है।

माधवी : फिर भी तो निमित्त ही बनूँगी, गालव। आज तुम्हारे लिए, कल किसी राजा के लिए।”

‘माधवी’ नाटक में ययाति द्वारा अपनी पुत्री माधवी को दान दिए जाने पर वह अपने पिता से पूछती है-

‘माधवी : यह क्या है पिताजी; क्या आप नहीं चाहते कि मैं आपके साथ रहूँ।

ययाति : बेटी, यज्ञ में दी जाने वाली आहुति साधारण आहुति नहीं होती।

माधवी : आज माँ होती तो क्या वह भी मुझे इस तरह दान में दे देती।

ययाति : इस समय मेरा धर्म ही सर्वोपरि है, माधवी. . . .।’

नाटक के संवाद के प्रमुख गुणों में व्यंग्यात्मकता भी है। जिसके सहारे नाटककार सामाजिक कुरीतियों पर विचारों को स्पष्ट करके दर्शकों को प्रभावित करने में सफल होता है।

‘माधवी’ नाटक में गालव-माधवी का संवाद व्यंग्यात्मकता से भरपूर है-

गालव : मैं नहीं जानता था कि संतान पैदा हो जाने पर तुम इतनी दुर्बल हो जाओगी। इसीलिए शायद स्त्रियाँ जोखिम के काम नहीं कर सकती, किसी बड़े काम का दायित्व वहन नहीं कर सकती।

माधवी : एक कर्तव्य मेरे पिता का, एक कर्तव्य मुनी कुमार गालव का, दोनों के कर्तव्य मेरे माध्यम से पूरे रहे हैं। फिर भी मैं दुर्बल हूँ। कर्तव्यपरायण नहीं हूँ। पिता ने मुझे सौंपकर अपना कर्तव्य निभा लिया और मुनि कुमार ने घोड़े बटोरकर अपना कर्तव्य पूरा कर दिया। एक दानवीर बन गया, दूसरा आदर्श शिष्य। और माधवी? मोह की मारी माधवी कर्तव्य से गिर गई। वह किसी बड़े काम का दायित्व वहन नहीं कर सकती। यही ना?''

नाटकीय संवादों में मनोवैज्ञानिकता का गुण भी कृतित्व की महत्ता को प्रतिपादित करता है। मनोवैज्ञानिक संवादों से ही पात्रों की मनःस्थिति, उनकी भाव दशा और व्यक्तित्व चेतना सही रूप में उजागर हो पाती है। 'माधवी' नाटक में माधवी और गालव का संवाद मनोवैज्ञानिक गुणों से भरपूर है, जिसमें माधवी के मन की पीड़ा और अन्तर्द्वन्द्व को अभिव्यक्ति मिली है।

“गालव : मैं सच्चे दिल से तुम्हारा आदर करता हूँ, माधवी, तुम्हारे प्रति कृतज्ञ हूँ।

माधवी : मुझे तुम्हारा आदर नहीं चाहिए, गालव, न ही कृतज्ञता। मुझे जो चाहिए था, वह तुम्हारे पास नहीं है।

गालव : मैं तुम्हें सुखी देखना चाहता हूँ, माधवी।

माधवी : तुमने केवल एक ही व्यक्ति से प्रेम किया है और वह आपसे। पर मैं, तुम्हें पहचानते हुए भी नहीं पहचान पायीं। मैं सारा वक्त यही समझती रही कि गालव सच्ची साधना और निष्ठावाला व्यक्ति है। तुम भी गुरुजनों जैसे ही निकले, गावल. . . . तुम सचमुच एक दिन ऋषि गालव बनोगे।''

भीष्म साहनी ने अपने विचारों के अनुरूप ही नाटकों की संवाद योजना की है। उनके नाटकों के अत्यन्त छोटे-छोटे संवाद स्थिति का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हैं। 'माधवी' नाटक का यह संवाद बड़ा ही मार्मिक बन पड़ा है। पुरुष-प्रधान समाज में नारी पुरुष के लिए सदैव भोग्या और इस्तेमाल की वस्तु रही है-

“गालव : तुम फिर से अनुष्ठान कर अपना पहला रूप धारण कर सकती हो। माधवी, मैं तुम्हें पाकर अपने को धन्य मानूँगा।

माधवी : तुम फिर से अपने को धोखा दे रहे हो, गालव! यह छिछली भावुकता किस काम की? यौवन और रूप तो मिल जाएँगे, पर इस अपने दिल का क्या कएँगी जो छलनी हो चुका है।''

यहाँ गालव की छिछली भावुकता पर माधवी व्यंग्य कसती है।

इन संवादों के विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि इन संवादों में एक सफल नाटक के वे सभी गुण हैं, जो उसके लिए अपेक्षित हैं। रंगमंचीय दृष्टि से संवाद व्यावहारिक हैं इनसे नाटककार भीष्म साहनी का वैशिष्ट्य इंगित होता है।

माधवी : भाषा शैली-

नाट्य की भाषा को पात्रानुकूल बनाने के लिए तथा वातावरण विशेष के निर्माण के लिए उसमें प्रसंगानुसार अन्य भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है। शब्द भले ही संस्कृत, अरबी, फारसी तथा अंग्रेजी के हों, किंतु उनका प्रयोग स्वाभाविक होना चाहिए। नाटक में प्रचलित भाषा का प्रयोग अत्यंत सरल, सुबोध और रोचक होना चाहिए। 'माधवी' नाटक में ययाति और गालव के संवादों में प्रयुक्त भाषा सुबोध एवं रोचक है-

गालव : मेरा नाम गालव है, महाराज। मैं ऋषि विश्वामित्र का शिष्य हूँ। अपनी शिक्षा प्राप्त कर यहाँ आया हूँ।

ययाति : आसन ग्रहण करो, मुनि कुमार, लम्बी यात्रा करके आये हो, थक गए होंगे।

गालव : मैं विवश होकर आपके द्वार पर आया हूँ महाराज। आज्ञा हो तो मैं अपनी प्रार्थना आपके सम्मुख रखूँ ?

ययाति : मैं राज-पाट से निवृत्त हो चुका हूँ, एक साधारण आश्रमवासी हूँ। पर फिर भी, मुझसे जो बन पड़ेगा, तुम्हारी सहायता करूँगा।

गालव : महाराज, मैं बारह वर्ष तक ऋषि विश्वामित्र के आश्रम में विद्या ग्रहण करता रहा हूँ। मैं बारह विद्याओं में पारंग हूँ। शिक्षा, समाप्ति पर मैंने गुरुवर से प्रार्थना की कि वह गुरु-दक्षिणा में क्या लेना स्वीकार करेंगे।

ययाति : गुरु दक्षिणा देना शिष्य का कर्तव्य है। कहो, उन्होंने कौन सी गुरु दक्षिणा माँगी ?

नाटकीय भाषा में एक ऐसा प्रवाह होना चाहिए कि कथा-गति में अथवा संवादों में कहीं भी विच्छिन्नता प्रतीत न हो। 'माधवी' नाटक में निम्नलिखित संवाद गत्यात्मकता से भरपूर है। . .
“गालव : मैं तुम्हें सुखी देखना चाहता हूँ।

माधवी : मुझे सुखी देखना चाहते हो ? मेरे पिता भी मुझे सुखी देखना चाहते थे। अयोध्या-नरेश भी मुझे सुखी देखना चाहते हैं। चारों ओर से मुझे सुख ही सुख मिल रहा है, सुख की वर्षा हो रही है। नहीं, मुझे ऐसे शब्द मुँहपर पहीं लाने चाहिए।”

नाटकीय भाषा को उस नाटक के पात्रों में सर्वथा अनुकूल होना चाहिए। इन संवादों में वातानुकूल भाषा का सुंदर प्रयोग है। 'माधवी' नाटक में निम्नलिखित संवाद में भी वातानुकूल भाषा का प्रयोग हुआ है, जिसमें संस्कृत शब्दों का विशेष प्रयोग किया गया है-

“ययाति : आपका शिष्य परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ महाराज, बधाई हो।

विश्वामित्र : उत्तीर्ण हुआ, आपके उदात्त सहयोग से, आपके सौजन्य से बधाई के पात्र तो आप हैं। आर्यावर्त में ययाति नहीं होता तो ऐसी प्रतिज्ञा कभी पूरी नहीं होती।”

नाटककार भीष्म साहनी ने अपनी नाट्यभाषा में व्यंग्य का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। 'माधवी' नाटक में माधवी और गालव के संवाद की भाषा कई जगह व्यंग्य से भरपूर है। जैसे-

“माधवी : जानते हो, जिन रानियों से राजा को सन्तान नहीं मिली, महल की दीवारों के पीछे उनकी क्या गति हुई है ? उन्हे भोजन तक के लिए कोई नहीं पूछता था। मेरे महल में आ जाने के बाद भी राजा ने दो ब्याह और किए है।

गालव : तुम व्यंग्य में बात करने लगी हो, माधवी। पहले तो ऐसा नहीं था। तुम्हारे स्वर में कटुता आ गई है।”

माधवी की - रंगमंचीयता :

माधवी भीष्म साहनी का तीसरा प्रसिद्ध नाटक है। इसका सबसे पहला प्रदर्शन प्रयोग नाट्य संस्था ने प्रगति मैदान के 'मंजर' मंच पर २९-३० जून तथा जुलाई १९८४ को एम. के. रैना के निर्देशन में किया गया था। माधवी महाभारत के कथानक पर आधारित होने के बावजूद आधुनिक नाटक है जो स्त्री-पुरुष संबंधों की जटिलता और विडंबना को रेखांकित करता है। नाटक का केंद्रीय चरित्र है महाभारत काल में महाराज ययाति की एक मात्र पुत्री माधवी, जो समाज में चले आ रहे स्त्री के शोषण के रूप प्रस्तुत करती है। पिता दानवीर कहलाने के लिए, प्रेमी गुरु-दक्षिणा चुकाकर ऋषि बनने के लिए, तीनों राजा चक्रवर्ती पुत्र पाने के लिए, विश्वामित्र शिष्य गालव का दम्भ तोड़ने के लिए माधवी का इस्तेमाल करते हैं परंतु कर्तव्य को धर्म मानकर पुरुष का साधन बन जाने वाली माधवी दुनिया की नजर में त्यागमयी महान नारी नहीं, कुलटा बन जाती है।

संरचना की दृष्टि से 'माधवी' में तीन अंक है, जो क्रमशः तीन, चार और तीन दृश्यों में विभाजित किए गए हैं। प्रत्येक दृश्य के आरंभ में सूत्रधार की तरह कथावाचक को उपस्थित किया गया है, केवल पहले अंक का तीसरा तथा दूसरे अंक का दूसरा दृश्य अपवाद है। 'माधवी' की संपूर्ण संरचना यथार्थवादी विषयवस्तु के अनुरूप है। माधवी पूरे नाटक के केंद्र में है। यह सदियों से शोषित होती आ रही नारी का प्रतिनिधित्व करती है। शोषण की इस प्रक्रिया के विविध आयाम तीन अंकों में अलग-अलग दृश्यों में नाटककार ने माधवी को अपने समय के यथार्थ के द्वंद्व में रखते हुए प्रस्तुत किए हैं। दूसरे अंक का दूसरा दृश्य मध्यांतर की योजना के

रूप में काल संक्रमण और माधवी के चरित्र का रूपांतरण दोनों को एक साथ, समन्वित करता है। प्रत्येक दृश्य में शोषण और दमन के चक्र की नयी-नयी परतें खुलती हैं। कथावाचक का स्वर इनकी क्रूरता तथा निमर्मता को बताने के लिए सर्वत्र सपाट रखा गया है। भावविहीन तथा आवेश रहित। वह दिखाना चाहता है कि माधवी के प्रति हुए अन्याय को उसके समकालीन समाज ने एक सामान्य स्थिति मान लिया है। नाटककार ने अत्यंत सजगता, सहजता और कौशल्य के साथ नाटकीय कार्य-व्यापार को माधवी से जोड़ दिया है। कहीं न भावावेग की अतिशयता है, न स्थितियों की अतिरंजना और न ही अति नाटकीयता। माधवी के प्रसंग में व्यापक सामाजिक, सांस्कृतिक सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में नारी के शोषण, समाज में उनकी दयनीय स्थिति और उसके प्रति पुरुष वर्ग की धारणा एवं सोच के सघन प्रभाव सूत्र निर्मित होते हैं। राजा हर्यश्च द्वारा समुचित परीक्षण के बाद माधवी का रहनिवास में प्रवेश पाना, अनंतर राजा को चक्रवर्ती पूत्र और गालव को दो सौ अश्वमेधी घोड़े उपलब्ध कराना, स्वयं रनिवास से मुक्त होना, फिर घोड़े देने की सामर्थ्य रखने वाले राजा की खोज के साथ परीक्षण एवं रनिवास में प्रवेश पाना आदि घटनाओं के रूप में नहीं, सघन संवेदनाओं से निर्मित स्थितियों के रूप में कार्य कारण संबंध में क्रमानुगत विकास है, जिसकी चरम परिणति अंतिम दो सौ अश्वमेधी घोड़ों को पाने के लिए माधवी के ऋषि विश्वामित्र के आश्रम में पहुँचने से होती है। “शेष दो सौ घोड़ों के लिए आप मुझे अपने पास रख लें। . . मुझे ग्रहण कर आपको पश्चाताप नहीं होगा, महाराज सभी राजा मेरे साथ प्रसन्न थे। सभी मुझे अपने रनिवास में रखना चाहते थे। पुत्र-लाभ होने पर आप गालव को गुरु दक्षिणा के दायित्व से मुक्त कर दें।” विश्वामित्र माधवी को पाकर गुरु-दक्षिणा पा लेते हैं। गालव गुरु दक्षिणा की वचन बद्धता से मुक्त हो जाता है। नाटक का अंतिम दृश्य एक शोक गीत उत्सव है। ययाति, गालव, विश्वामिश्र अपने अपने मनोरथ की सिद्धि का उत्सव कर रहे हैं। तीनों के मनोरथ का निमित्त माधवी है। परंतु माधवी की कर्तव्यपरायणता, सत्यनिष्ठा और समर्पण का कोई मूल्य नहीं रह जाता है। वह जीवन का अभिशाप और छलनी हुए दिल के साथ विशाल संसार में अपना कोई स्थान खोजने के लिए आँखों से ओझल हो जाती है। यहाँ “एक अलौकिक मिथकीय परिवेश बनता है और उसमें माधवी अपनी जीवन्तता, प्रासंगिकता, अपना सजीव आकर्षण, पूरे आंतरिक संस्पर्श के साथ स्थापित करती है। नाटक का अंत माधवी के चरित्र और ‘माधवी’ नाटक का विस्तृत फलक और अनेक आयाम देता है।”

माधवी की रंगमंचीय सफलता में कथानक की भूमिका का विशिष्ट योगदान है। वह दृश्य-प्रसंगों की कड़ियों को जोड़ने के साथ ही अपनी टीका-टिप्पणी के माध्यम से स्थितियों पर सूक्ष्म व्यंग्य भी करता है। पहले अंक के पहले दृश्य में पुरुष-प्रधान सामंती समाज में नारी की स्थिति पुरुष के बहुत से गुण गिनाये हैं, वही सच्चा साधक है। अपने माता-पिता के प्रति कर्तव्य, अपने गुरु के प्रति कर्तव्य, अपने धर्म के प्रति कर्तव्य, इसी को सच्ची साधना कहते हैं।” दृश्य का अंत ययाति द्वारा अपनी पुत्री माधवी को गालव को दान में दिए जाने पर होता है। डॉ. गिरीश रस्तोगी के मतानुसार- “प्रथम दृश्य में ही सारा धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक ढाँचा, संबंधहीनता, संवेदनशून्यता, पाखंड, पुरुष का आत्ममोह, अधिकार वृत्ति और समाज में पितृसन्तात्मक सामंती समाज में नारी शोषण सबकुछ संकेतित हो जाता है, सभी का अनिश्चय के गर्त में झोंक दिया जान स्थापित होता है, साथ ही दो विरोधी स्वर एक साथ उभरते हैं- एक, माधवी पटरानी बनने जा रही है, दूसरा, भगवान ही उनकी रक्षा करें क्योंकि मनुष्य जगत ने तो उसकी व्यवस्था कर दी।” दृश्य दो में कथानक की उक्ति सामाजिक प्रश्नों के साथ-साथ दर्शकों को उत्सुक करती है क्योंकि गालव और माधवी अश्वमेधी घोड़ों की तलाश में निकल चुके

हैं। कैसे होंगे वे श्यामवर्णी घोड़े की तलाश में निकल चुके हैं। कैसे होंगे वे श्यामवर्णी घोड़े? कौन होगा वह प्रतापी राजा जो आठ सौ घोड़े देगा? के भाव उभरते हैं। माधवी की कोख से जन्म लेनेवाला पुत्र चक्रवर्ती राजा बनेगा की बात से गालव अनेक प्रकार के संस्थों, द्वंद्व, स्वार्थ जनित, प्रश्नों से धिरता चला जाता है। चक्रवर्ती गालव बनने का प्रलोभन उसे मोह लेता है। नाटककार ने इस प्रलोभन को रोकने के लिए आकाशवाणी का प्रयोग किया है। “तुम किस प्रलोभन में पड़ रहे हो, युवक? कल तो आत्महत्या करने जा रहे थे और आज चक्रवर्ती राजा बनने के सपने देखने लगे हो? क्या तुम दो व्यक्तियों से विश्वासघात करोगे? अपने गुरु के साथ भी, महाराज ययाति के साथ भी?”

गालव को दान में दे दी गई माधवी को अपने प्रेमी की वचन पूर्ति के लिए अपना यौन शोषण स्वीकार किए जाने की बिडंबना को ‘सेवाधर्म’ के नाम पर नारी-शोषण को लेकर कथावाचन ने दूसरे अंक के पहले दृश्य में इस प्रकार व्यंग्य किया- “धर्म ग्रंथों में स्त्री की तुलना पृथ्वी के साथ की गई है। जिस भौति पृथ्वी संसार भर का बोझ वहन करती है, वैसे ही स्त्री सभी दायित्यों का भार वहन करती है। उसकी शक्ति सेवा में है। पुरुष महत्त्वाकांक्षी होता है, पर स्त्री का प्रमुख गुण त्याग है, सेवा है।” इसीप्रकार जन्म से ही पुत्र के स्वागत और पुत्री की अकाम्यता और वैमस्य हमारे समाज में स्त्री-पुरुष के बीच भेदभाव का जो बीज बोता है उसे रेखांकित करते हुए कथा वाचक टिप्पणी करता है- “शास्त्रों में कहा गया है कि जिस राजा की पुत्र लाभ नहीं होता, वह राजा रंक समान है। वह राजा इहलोक और परलोक दोनों खो बैठता है। वंश को आगे ले जाने वाला, सत्ता और संपत्ति का उत्तराधिकारी, पितरों की अराधना करने वाला, सत्ता और संपत्ति का उत्तराधिकारी, पितरों की अराधना करने वाला, बाप-दादा के यश को और उज्ज्वल बनाने वाला, पुत्र ही है. . . उसी पर घर की, परिवार की, समाज की, राज्य की गाड़ी चलती है। इसीलिए शास्त्रों में कहा है कि जिसके पुत्र नहीं, वह राजा रंक के समान है।

कथावाचक नाटक के गठन की दृष्टि से घटे हुए प्रसंगों की सूचना ही नहीं देता, दो भिन्न स्थलों के प्रसंगों को भी परस्पर जोड़ता है। ऐसा होने से दृश्यसंबंधों का अभाव नहीं खटकता। उनसे जो स्थान बोध होता है, वह इस नाटक में कथावाचक की उक्तियों से हो जाता है। पूरे नाटक में, गठन की दृष्टि से कथावाचक की भूमिका का सबसे चमत्कार पूर्ण उपयोग उस स्थल पर हुआ है जहाँ अश्वमेधी घोड़ों की प्राप्ति के लिए भोजनगर के वृद्ध राजा के सामने माधवी को समर्पित किया जाता है। सूच्यांश को क्षिप्रतापूर्वक दृश्य में बदलकर उसको तीसरी बार समर्पित होते दिखलाने की आवृत्ति से बचाकर कथासूत्र तुरंत आगे बढ़ा दिया गया है। इस प्रकार का समर्पण माधवी की नियति बन चुका था, इसलिए उसका संकेत मात्र पर्याप्त था। “प्रकाश वृत्त में माधवी खड़ी है, वृद्ध राजा उशीनर उसके गले में जय माला डालता है। फिर तीन दासियाँ एक के पीछे एक प्रगट होती हैं। एक माधवी के कंधों पर दुकूल वस्त्र डालती है, दूसरे उसके गले में मंगलसूत्र पहनाती है, तीसरी उसके सिर पर छोटा सा मुकुट रखती है। और रानी माधवी अंतःपुर की ओर जाती है।” यह संकेत सूच्य प्रसंग में न करके नाटककार ने उसे संस्थाल पर प्रस्तुत करने का विधान कर दिया है। इस संदर्भ में जावेद अख्तर खाँ लिखते हैं- माधवी के कुछ सूच्य दृश्य तो याद रखने लायक हैं। जाहिर है, उसका सही आस्वाद सफल मंच में ही मिल सकता है। यथाः प्रकाश वृत्त में माधवी खड़ी है। वृद्ध राजा उशीनर उसके गले में जय माला डालता है। फिर दासियाँ एक के पीछे एक प्रकट होती हैं। एक माधवी के कंधे पर दुकूल वस्त्र डालती है, दूसरी उसके गले में मंगलसूत्र पहनाती हैं, तीसरी उसके सिर पर छोटा-सा

मुकूट रखती है। सूच्य दृश्य समाप्त। ऐसे विवरणात्मक दृश्य सिर्फ नाटक की संक्षिप्तता के लिए जरूरी है। अयोध्या नरेश और काशी नरेश के बाद इस तीसरे राजा के पास दो सौ घोड़ों के बदले माधवी के बेचने का प्रसंग यदि दृश्य रूप में संवादों, घटनाओं और चरित्रों के आधार पर बढ़ाया जाता, तो न सिर्फ अनावश्यक विस्तार होता, बल्कि निश्चित रूप से नाटकीय सधनता कम हो जाती, बार-बार एक ही जैसे प्रसंग का दोहराव निश्चय ही एकरसता उत्पन्न करता।”

नाटक की केंद्रीय संवेदना की मार्मिकता में वृद्धि करने का एक अकारण स्वप्न कथन भी है। माधवी के मानसिक अंतर्द्वंद्व में वृद्धि करने का एक उपकरण स्वप्न कथन भी है। माधवी के मानसिक अंतर्द्वंद्व, घुटन, टूटन, अपराध बोध आदि की व्यावृत्ति के लिए भीष्म साहनी ने स्मृति, स्वप्न, विबोध आदि संचारी भावों का आधार ग्रहण कर स्मृति, दृश्यों और स्वप्न दृश्यों की सुंदर योजना की है और इसके लिए पूर्व दीप्ति शैली को अपनाया है। माधवी में तीन बार स्वप्न का प्रयोग किया गया है। माधवी पहली बार सपने में वे घोड़े देखती है जिन्हें जुटाने के लिए उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध ही अनजान पुरुषों के समक्ष समर्पित होना पड़ता है। गालव को अपना सपना सुनाते हुए वह कहती है- “मैंने देखा, घना जंगल है, दूर-दूर तक फैला हुआ और उसमें तरह-तरह की आवाजें आ रही हैं। जानवरों की, पक्षियों की और इन्हीं आवाजों के बीच, सहसा भागते घोड़ों की टाप सुनाई देने लगती है। फिर क्या देखती हूँ कि पेड़ों की घनी छाँव में से एक युवक निकलकर सामने आया. . . ।” दूसरे स्वप्न का वर्णन कथावाचक करता है। वह स्वप्न उसका अपना देखा हुआ नहीं है, वृद्ध राजा उशीनर का है - “वृद्ध राजा उशीनर ने उसी रात एक सपना देखा था कि उनके प्रासाद की छत पर चाँद उतर आया है और उसके रजत प्रकाश में सारा महल झिलमिलाने लगा है।” दूसरे दिन माधवी को सामने पाकर उन्हें लगता है जैसे उसका सपना साकार हो उठा है। तीसरे स्वप्न का वर्णन भी कथा वाचक करता है जो माधवी ने देखा है। इसमें माधवी की मनः स्थितियों, त्रासदी, घुटन, टूटन और विवशता की सफल अभिव्यक्ति है। - “तभी एक रात माधवी ने स्वप्न देखा कि अंधेरे वन के ऊपर एक भीमकाय पक्षी उड़ा जा रहा है, उसने अपनी चोंच में एक नवजात शिशु को दबा रखा है, और नीचे हाहाकार करते लोग भागते जा रहे हैं। माधवी भी उन्हीं के बीच भागती जा रही हैं।” चौथा प्रसंग वास्तविक स्वप्न का न होकर अपनी कटु अनुभूति के दुःस्वप्नवत साक्षात्कार का है। इसका उदय अवचेतन में न होकर चेतन स्तर पर कटु अनुभूति की प्रतीकात्मक अभिव्यक्तित्व की मूर्तता के साकार हो जाने से हृदय बेधक बन गई है। “कभी-कभी मुझे लगता है मैं कोई दुःस्वप्न देख रही हूँ, और मेरे चारों राक्षस और दानव घूम रहे हैं, कर्तव्यपरायण दानव. . . तीनों राजा मेरे बच्चों को साथ लेकर यहाँ पहुँच गए हैं। जैसे मछली पकड़ने के लिए काँटे में छोटी मछली लगा दी जाती है, वे मेरे बच्चों को मेरे सामने लाकर मुझे प्रलोभन देंगे। सभी कर्तव्य के पक्के, सभी महामानव।” भीष्म साहनी स्वप्न के माध्यम से माधवी की आंतरिक यातना का चित्रण करते हैं। अंधेरा वन, भीमकाय पक्षी, चोंच में नवजात शिशु, भागती हुई माधवी सचमुच राज्याधिकारी उसके बच्चे को उठाकर ले गए हैं। स्वप्न और भयावह यथार्थ का यह रोमांचक दृश्य है।” स्वप्नों या स्वप्न प्रतीति में अनुभूति की सधनता और प्रतीकों की मूर्तता की एकाकारिता के फलस्वरूप इस नाटक में अनेक स्थलों पर काव्यात्मकता के दर्शन होते हैं।

‘माधवी’ का कथानक जटिल होते हुए भी भीष्म साहनी ने अभिनेयता का पूरा ध्यान रखा है। रंगमंच के अनुसार बहुत सी बातें रंग-संकेतो और संवादों के द्वारा प्रस्तुत की गई है। प्रकाश वृत्त के उपयोग का निर्देश तीसरे अंक के पहले दृश्य में दो बार दिया गया है। ध्वनि प्रभाव

का उपयोग भीष्म साहनी ने एक युक्ति के रूप में किया है। शिशु की रुदन-ध्वनि का उपयोग नाटक की मार्मिकता में वृद्धि के लिए किया है। प्रकाश और ध्वनि का सम्मिलित प्रयोग नाटककार की कुशलता का परिचायक है। “प्रकाशवृत्त में बायीं ओर से माधवी प्रवेश करती है। पहले सिर से मुकुट, फिर मंगलसूत्र और फिर अकेली ही, दाये-बाये देखकर आगे बढ़ जाती है। दूर से उसके नवजात बालक का हलका-हलका रुदन सुनाई देता है।” श्रव्य ध्वनियों का संसार है। नाटककार ने दृश्य को सजीव बनाने के लिए ध्वनियों का प्रयोग किया है। जब-जब माधवी को पुत्र लाभ होता है और दो सौ अश्वमेधी घोड़े देने की प्रतिज्ञा पूरी हो जाती है, तब भागते हुए लोगों, तरह-तरह के शोर, घोड़ों की टाँपों से, आनामवासियों के अथवा लोगों की बातचीत से एक पूरी दृश्य संरचना सजीव हो जाती है। इसी प्रकार शंखनाद, मंत्रोच्चार, स्वास्तिवाचन, होम यज्ञ के स्वर, संगीत नाटक के कथ्य को, चरित्रों की विषम स्थितियों को संवेदनात्मक स्तरपर संप्रेषित करते हैं।

इस नाटक का महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य यह है कि पूरे नाटक में घोड़े बराबर दर्शकों के सामने बने रहे हैं, यद्यपि वे मंच पर कभी नहीं आते हैं। नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने की दृष्टि से नाटककार की यह अपूर्व उपलब्धि है। परंतु संरचना और प्रभावशीलता की दृष्टि से यह अपेक्षाकृत कमजोर रचना है। अनावश्यक पुनरावृत्ति तथा दृश्य के बजाय सूच्य की अधिकता नाटक को दुर्बल बनाती है। नाटककार गालव के तीव्र अंतर्द्वंद्व तथा माधवी की मर्मत्तक पीड़ा को, दोनों के संबंधों के अंतर्विरोधों को गहराई से प्रस्तुत नहीं कर सका है। माधवी की पीड़ा, करुणा बनावटी और साहसिकता आरोपित लगती है। नाटककार ने संयोग का सहारा भी कुछ अधिक लिया है। एक बार दान कर दी गई कन्या के लिए ययाति द्वारा नाटक के अंत में पुनः स्वयंवर का आयोजन करना एकदम अतार्किक और हास्यास्पद लगता है। फिर भी नाटक में मानवीय संबंधों की विषमताओं और करुणा का ऐसा स्पर्श है जो आकर्षित करता है और यही कारण है कि अपनी कतिपय कमियों के बावजूद माधवी समकालीन हिंदी नाट्य लेखन की एक उल्लेखनीय रचना बन गयी है।



प्रेमचंद और गोदान

हिंदी कथा साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचंद का आगमन एक युगांतरकारी घटना है। इन्होंने हिंदी कहानी एवं उपन्यास को गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से अतिशय समृद्ध किया है। प्रेमचंद का लेखक एक विकास मान व्यक्तित्व का समुच्चय है जो 'असआरे मआबिद' से 'गोदान' तथा 'मंगलसूत्र' अपूर्ण तक की यात्रा करता है। इनका जन्म १८८४ में बनारस के निकट लमही नामक गाँव के एक निर्धन परिवार में हुआ था। इनका वास्तविक नाम धनपतराय था। सात वर्ष की आयु में माता तथा पन्द्रह वर्ष की आयु में इनके पिता का निधन हो गया। इन्होंने अपने बलबूते पर बी.ए. तक की पढ़ाई की। इनके लेखकीय जीवन का आरंभ सन् १९०१ से माना जाता है। सन १९०६ में महा शिवरात्रि को इन्होंने बाल-विधवा शिवरानी से विवाह किया। इनका कहानी संग्रह 'सोजेवतन' जब्त होने पर आप प्रेमचंद नाम से लिखने लगे।

प्रेमचंद के साहित्यिक व्यक्तित्व पर विचार करते हुए डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि, "प्रेमचंद शताब्दियों से पद दलित, अपमानित और निषेधित कृषकों की आवाज थे; पदों में कैद, पद-पद पर लांछित और असहाय नारी-जाति की महिमा के जबरदस्त वकील थे। गरीबों और बेकसों के महत्त्व के प्रचारक थे। अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुःख – सुख और सूझ-बूझ को जानना चाहते हैं तो प्रेमचंद से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता। झोंपड़ियों से लेकर महलों तक; खोमचे वालों से लेकर बैंकों तक, गाँव से लेकर धारा सभाओं तक, आपको इतने कौशलपूर्वक और प्रामाणिक भाव से कोई और नहीं ले जा सकता। आप बेखटके प्रेमचंद का हाथ पकड़कर मेड़ों पर गाते हुए किसान को, अंतः पुर में मान किए बैठी प्रियतमा को, कोठे पर बैठी हुई वार वनिता को, रोटियों के लिए ललकते हुए भिखमंगो को, कूट परामर्श में लीन गोपेन्नो को, ईर्ष्या परायण प्रोफेसरों को, दुर्बल हृदय बैंकरों को, साहस परायण चमारिन को, ढोंगी पंडितों को, फरेबी पटवारी को, नीचाशय अमीर को देख सकते हैं, और निश्चिंत होकर विश्वास कर सकते हैं कि जो कुछ आपने देखा वह गलत नहीं है। उससे अधिक सचाई से दिखा सकने वाले परिदर्शक को अभी हिंदी-उर्दू की दुनियां नहीं जानती। परंतु सर्वत्र ही आप एक बात लक्ष्य करेंगे। जो संस्कृतियों और संपदाओं से लद नहीं गए हैं, जो अशिक्षित और निर्धन हैं, जो गँवार और जाहिल हैं, वे उन लोगों की अपेक्षा अधिक आत्मबल रखते हैं और अधिक न्याय के प्रति सम्मान दिखाते हैं, जो शिक्षित हैं, जो सुसंस्कृत हैं, जो सम्पन्न हैं, जो चतुर हैं, जो ईमानदार हैं, जो दुनियादार हैं, जो शहरी हैं। यही प्रेमचंद का जीवन दर्शन है।"

प्रस्तावना :

प्रेमचंद हिंदी के श्रेष्ठतम उपन्यासकार माने जाते हैं। इन्होंने देश की पराधीनता के यथार्थ को उसके व्यापक आयामों और जटिलताओं के साथ प्रस्तुत किया है। देश की आजादीकी समस्या प्रेमचन्द के लिए मात्र भावनात्मक अथवा राष्ट्रप्रेम की समस्या नहीं थी, वरन्, वह देश के आर्थिक शोषण और दमन से जुड़ी हुई थी। प्रेमचन्द ने जमींदारों, महाजनों तथा ब्रिटिश सरकार द्वारा अबाध रूप से किसानों एवं मजदूरों के त्रिस्तरीय शोषण का 'गोदान' में यह भी चित्रित किया है कि जब तक किसान संगठित नहीं होंगे तब तक वे सरकारी शोषण और दमन का विरोध नहीं कर सकेंगे। प्रेमचन्द देशी राजाओं, ताल्लुकेदारों, महाजनों, पूँजीपतियों, सरकारी अमलों, न्याय व्यवस्था इत्यादि के चित्रण द्वारा प्रकारांतर से ब्रिटिश सत्ता का प्रति रोध करते हैं। यहाँ उनके उपन्यासों के आलोक में उनकी इसी चिंता को विश्लेषित किया जा रहा है।

प्रमुख उपन्यास : प्रतिज्ञा-वरदान, सेवासदन, प्रेमाश्रम, निर्मला, रंगभूमि, कायाकल्प, गबन, कर्मभूमि, गोदान इत्यादि। 'मंगलसूत्र' इनका अपूर्ण उपन्यास है।

प्रेमचन्द के लेखकीय जीवन का आरम्भ उर्दू उपन्यास कहानी लेखन से हुआ। उनके उर्दू कहानी – संग्रह 'सोजेवतन' को अंग्रेज संस्कार ने जब्तकर लिया। इस जब्ती से कहानियों का मिजाज तथा प्रेमचन्द के भावी लेखन का स्वरूप जाना जा सकता है। इस संग्रह के जब्त होने के बाद उन्होंने अपना नाम नवाबराय से बदलकर प्रेमचन्द रख लिया। प्रेमचन्द के उर्दू उपन्यासों का अनुवाद हिन्दी में हुआ और हिन्दी उपन्यासों का अनुवाद उर्दू में। इस तरह वे हिन्दी उर्दू दोनों भाषाओं के अन्यतम कथाकार ठहरते हैं। उनका पहला महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'सेवासदन' उनके उर्दू उपन्यास 'बाज़ारे हुस्न' का हिन्दी अनुवाद है। 'कायाकल्प' उनका पहला उपन्यास है जिसकी पांडुलिपि हिन्दी में मिलती है। हिन्दी भाषा और महत्त्व की व्याप्ति को देखते हुए वे हिन्दी में लिखने लगे।

गोदान (१९३६) प्रेमचन्द का अंतिम और सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इसमें प्रेमचन्द के जीवनानुभव और कलात्मक जगत का सार है। इसकी देहली पर खड़े होकर प्रेमचन्द ने स्वयं और अपनी रचनाओं तथा उनमें वर्णित संघर्षों तथा आदर्शों को ढहते हुए देखा और अपने को मोहभंग की स्थिति में पाया। 'गोदान' में पूर्ववर्ती उपन्यासों और अनेक कहानियों की समस्याएं ली गई हैं। इस में पंच परमेश्वर, बड़े घर की बेटा, घासवाली, पूस की रात कहानियां हैं। पंच परमेश्वर का पंच है पर वह परमेश्वर नहीं रह गया है। पूस की रात इसमें सुरक्षित है। उपन्यासों में गाँव वहीं है। परिस्थितियाँ भी ऊपर-ऊपर से वही हैं। किन्तु उन्हें देखने का परिप्रेक्ष्य बदल गया है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि 'गोदान' में प्रेमचन्द ने अपनी कृतियों का पुनरिक्षण-परिवर्तन और नवीन संयोजन किया है। प्रेमचन्द का महत्त्व तिलस्म और रोमांस की भूलभुलैया से बाहर निकाल कर हिन्दी उपन्यासों को सामाजिक समस्याओं से जोड़ने में है। इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने हिन्दी उपन्यासों को सही वस्तुदी, सहीभाषा दी, सही दिशा दी। यदी कारण है कि वे ऐतिहासिक महत्त्व के लेखक हैं।

‘गोदान’ शीर्षक की सार्थकता

प्रेमचन्द ने अपने ३२५ पृष्ठों के महाकाय उपन्यास का नाम ‘गोदान’ क्यों रखा, यह भी कम चिंतनीय नहीं है। ‘गोदान’ का शाब्दिक अर्थ होता है ‘गाय का दान’। होरी की मृत्यु के उपरांत यह कर्मकांडी गोदान सम्पन्न भी होता है। चूंकि धनिया के पास रस्सी बेचकर कुछ पैसे आए थे जिसमें से वह बीस आने पैसे गाय के एवज में पंडित को दान कर देती है। लेकिन प्रेमचन्द जैसा कथाकार केवल इस घटना को दिखाने के लिए अपनी सर्वश्रेष्ठ कथात्मक उपलब्धि का नाम ‘गोदान’ रख देगा, यह अचरज में डालनेवाली बात है। ऐसी स्थिति में ‘गो’ शब्द के सारे अर्थों का बोध जरूरी है। ‘गो’ का अर्थ है, प्रकाश, धरती, माता, इंद्रिय। इस तरह ‘गो दान’ के कई अर्थ हो सकते हैं। ‘गोदान’ उपन्यास में अनेक स्थलों पर गो शब्द का प्रयोग हुआ है साथ ही दान शब्द का भी। ‘गोदान’ में मातृत्व का दान है, ‘गोदान’ में प्रकाश का दान है, ‘गोदान’ में ज्ञान का दान है, ‘गोदान’ में कामवासना का त्याग है, ‘गोदान’ में विषय भोग का त्याग है, ‘गोदान’ में जिह्वा सुख का त्याग है। वस्तुतः ‘गोदान’ परिग्रह की कृति नहीं अपरिग्रह की कृति है। मेहता ज्ञान का दान करता है, मेहता मालती से विवाह करना चाहता है किन्तु मालती विवाह नहीं करती, वह काम सुख का त्याग करती है। रूपा की शादी एक अंधे व्यक्ति से होती है, वह आइने के सामने श्रृंगार करती है लेकिन पति के आते ही हाउस-वाइफ बन जाती है। दान दोनों ही अर्थों में चलता है- देने के अर्थ में, अपरिग्रह और त्याग के अर्थ में भी। गोविंदी मातृत्व का दान करती है। इस तरह ‘गोदान’ में कितने प्रकार के दान हैं जिसमें इंद्रिय-सुख का दान सबसे प्रबल है। दान करने के कारण होरी इसका नायक है। होरी अपने परिवार के लिए अपने को कुर्बान कर देता है। इस तरह ‘गोदान’ शीर्षक अपने आप में अनेकार्थी है। इसके एक से अधिक अर्थ हो सकते हैं।

प्रेमचंद पहले उपन्यासकार हैं जिन्होंने हिंदी उपन्यासों को साहित्यिकता का दर्जा प्रदान किया। फिर भी गोदान के पूर्ववर्ती उपन्यासों का ऐतिहासिक महत्त्व ही शेष रहेगा। अपनी खामियों के बावजूद गोदान भारतीय किसानों के उत्पीड़न का ही साहित्यिक दस्तावेज नहीं है बल्कि मानवीय संवेदना को भी वह गहरे और घने अर्थ में उजागर करता है। इसलिए उसका साहित्यिक महत्त्व, उतना ही है जितना अन्य किसी उपन्यास का हो सकता है।

गोदान का मूल स्वर

अपने समय की बदलती हुई सामाजिक स्थिति का जितना सफल और सार्थक चित्रण प्रेमचन्द ‘गोदान’ में किया है वह उनके कलाकार पक्ष की सबलता का परिचायक है। उनके द्रष्टा पक्ष ने यह भली-भाँति देखा कि भारत की सामंती प्रथा अब पूरी तरह कोखली हो चुकी है। यह अब तेजी से टूट रही है। इतिहास की गतिशील शक्तियाँ एवं विकसनशील आन्तरिक प्रवृत्तियाँ इस टूटती हुई सामंती प्रथा के बीच से भारतीय समाज को ‘समाजवाद’ की ओर खींचे लिए जा रही हैं। प्रेमचंद ‘गोदान’ में दिखलाते हैं कि एक ओर जम्मीदारों के लिए लगान एवं बेगार के लिए किसान रूपया जुटाने में असमर्थ था, दूसरी तरफ महाजन कर्ज में एक के बदले उससे दस वसूल करता था। तनाव की इस स्थिति को कृषक समाज कुछ समय के लिए तो अवश्य सह लेता है, पर विषमताओं का जो भार उस पर पड़ता है वह अंत में उसे विवश कर देती है कि

वह जमीन का मोह छोड़ दे। इस तथ्य को प्रेमचन्द ने अपनी कहानी 'पूस की रात' में बड़े ही कलात्मक ढंग से चित्रित किया है।

होरी का अंतरंग एवं बहिरंग – दोनों सामंती विचारधारा से आप्लावित हैं। पर यह कहना कि कृषक-वर्ग तो सामंत वाद का कृष्णपक्ष है, वह उसका साधन होकर सदा सामंतवादी शासकों की संस्कृति का विरोधी होता है-पूरी तरह न्याय संगत नहीं। फिल्ड्रेशन के सिद्धांत के अनुसार सामंती मनोवृत्ति समय के साथ किसानों की रगों में धीरे धीरे उतरती जाती है। और एक समय यह सामंती संस्कृति प्रसार पाकर किसानों की अपनी जीवन-दृष्टि में पूरी तरह घुल-मिल जाती है। ऐसी अवस्था में सामंतों और किसानों की संस्कृति में कोई अन्तर नहीं रह जाता। होरी भी उसी किसान वर्ग का एक व्यक्ति है, जिसकी रग-रग में, रक्त के एक-एक कतरे में, वर्षों से चली आती सामंती संस्कृति बुरी तरह अपना घर बना चुकी है।

सामंती संस्कृति का आधार धरती है। धरती ही सामंती युग की उत्पादन – प्रणाली का वह मूलबिन्दु है जिसके आधार पर जमींदार किसानों का शोषण करते हैं। ऐसी धरती से जब एक ओर किसान अपना अभिन्न सम्बन्ध स्वीकार कर बैठता है और दूसरी ओर जमींदारों को धरती का स्वामी और अपने को उसका दास समझने लगता है, तब वह जान-अनजान में शोषणकारी सामंती संस्कृति को ही पुष्ट करता है। होरी भी स्वयं को धरती का स्वामी नहीं मानता। जो दस रूपए महीने का नौकर है वह भी उससे अच्छा खाता-पिता है। इस ज्ञान के बावजूद उससे खेतों को छोड़ा नहीं जाता, क्योंकि सामंती मूल्यों को जीवन की गहराई तक अपना लेने के कारण वह यह मानने लगता है कि, 'खेती में जो मरजाद है, वह नौकरी में तो नहीं।' दूसरी ओर अपने तमाम शोषण के बावजूद वह रायसाहब को सदा अपना स्वामी घोषित करता रहता है।

जिस समय प्रेमचन्द ने 'गोदान' की रचना की, उस समय सामंती प्रथा टूट रही थी। सामंतवादी प्रथा के टूटने एवं बिखरने का अर्थ ही होता है जमीन के प्रति किसान के मोह का टूटना। जमीन के मोह के टूटने का दूसरा अर्थ होता है- मजदूर बनना। यही मजदूर वर्ग आगामी समाजवादी प्रथा का आधार-स्तम्भ बनता है। वस्तुतः 'गोदान' की सम्पूर्ण कहानी सामंती आस्था के टूटने की कहानी है। पर इसका टूटना आसान न था। हजारों वर्षों से हमारे रक्त में प्रवाहित होने के कारण जो संस्कृति आत्मा में बहुत गहराई तक उतर चुकी थी, वह स्वयं में कितनी बड़ी शक्ति होगी- इसका सहज में अनुमान लगाया जा सकता है। होरी का जीवन दो पाटों – सामंती एवं समाजवादी – के तनाव के बीच से गुजरता है। वह एक ओर सामंती मान्यताओं से लड़ता है तो दूसरी ओर मजदूर वर्ग की सत्ता पर आधारित समाजवादी प्रथा अपनाने से इनकार भी करता है। पर इतिहास की गतिशील शक्तियाँ समाज को प्रगति के किस पथ पर ले जा रही थी, यह 'गोदान' के रचयिता ने भली-भाँति अनुभव कर लिया था। अतः अन्दर्द्वन्द्व की इस स्थिति का अंत 'गोदान' में इतिहास की गतिशील प्रवृत्तियों की विजय में ही पर्यवसित होता है।

होरी अपने जीवन का सम्पूर्ण श्रम और अपनी आस्था की पूरी शक्ति लगाकर जमीन के साथ चिपटा रहना चाहता है। पर जमींदार के अत्याचार, महाजन के कर्ज आदि दूसरे ऐतिहासिक कारणों के फलस्वरूप उसे जमीन का मोह अंत में त्याग देना पड़ता है। सामंतवादी

विकृतियों से लड़ता-लड़ता वह टूट जाता है। पर उसके दम तोड़ने का अर्थ ही है-पुरानी सामंतवादी प्रथा पर निहित आस्था का चूर-चूर होना। एक पीढ़ी (होरी) सामंतवादी प्रथा से लड़ते – लड़ते अंत में टूट जाती है और टूटकर भावी जीवन (समाजवाद) की आस्था की ओर संकेत देती है और दूसरी पीढ़ी (गोबर) उस आस्था को जीवन में उतारकर, उसे कर्म क्षेत्र (समाज) में स्थापित करने की ओर सचेष्ट हो उठती है। यही 'गोदान' का मूलस्वर है।

‘गोदान’ का प्रतिपाद्य विषय : युग का महान सत्य

‘गोदान’ का प्रतिपाद्य-विषय, युग के एक महान सत्य का उद्घाटन है। वह सामंती प्रथा के टूटने की कहानी है जिसे महान उपन्यासकार ने भारतीय जन-समाज की सभी आंतरिक विषयमताओं एवं सामाजिक अंतर्विरोधों के संदर्भ में चित्रित करने का स्तुत्य प्रयास किया है। इसमें केवल ग्रामदशा का विशद एवं मार्मिक चित्रण नहीं, वरन् उस सामाजिक गत्यात्मक शक्तियों के संदर्भ में सम्पूर्ण भारतीय जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयास है जो भारतीय समाज को उस समय उद्धेलित कर रही थी, उसे विकास का ऐतिहासिक संदेश दे रही थी। ‘गोदान’ का हतकम्पन सामंती प्रथा के गर्भ को फाड़कर निकलने वाली संस्कृति के जन्म की कहानी को स्पष्ट संकेत देता प्रतीत होता है। इसे बड़ी ही खूबी के साथ उपन्यासकारने ‘होरी’ और ‘गोबर’ के चारित्रिक दृन्द एवं स्वभावगत अन्तर्विरोधों के माध्यम द्वारा चित्रित किया है और कैनवास के रूप में भारतीय समाज का वृहत अंश उनके सामने रहा है।

महान कलाकृति में चरित्र का टाइप और व्यक्ति रूप इस तरह आपस में घुल-मिल जाता है कि उसे अलग करना असंभव होता है। ‘गोदान’ भी साहित्यिक वैभव का अन्यतम रूप है। उसमें भी व्यक्तित्व का सामाजिक तत्त्व एवं उसका निजी अंश आपस में इस प्रकार समन्वित हो उठे हैं कि उनके व्यावहारिक रेशों को अलग करना असंभव है। होरी तो सामंती संस्कृति का सधनतम जीवित रूप है। वह धरती से इसलिए चिपटा रहता है कि वह सामंती मर्यादा का प्रश्न है। चतुर्दिक शोषण द्वारा पिसकर भीवह सामंती प्रथा को इसलिए मूकभाव से वहन करता जाता है क्योंकि सामंती संस्कृति के अनुरूप वह नियति और कर्मफल में पूर्ण आस्था रखता है। वह यह मानता है कि हमारा जन्म इसीलिए हुआ है कि अपना रक्त बहावें और बड़ों का घरभर दें; पर असंतोष की इस स्थिति को वह अपना कर्मफल मानकर संतोष कर लेता है। वह कर्मफल पर आधारित जाति प्रथा का उल्लंघन नहीं कर पाता और अन्य कई प्रकार की बेईमानी करने के बावजूद ब्राह्मण का रूपया दबा लेने और उसका अनिष्ट करने में भारी पाप समझता है। सामंती संस्कृति की प्रमुख कड़ी है संयुक्त परिवार के प्रति आस्था और बिरादरी में रहने का मोह। होरी इस मोह को तोड़ नहीं पाता। स्वाभाविक स्नेहवश जब वह अपने पुत्र की गर्भवती प्रेमिका झुनिया को अपने कुटुम्ब में शरण दे देता है तब अन्तर्जातीय विवाह को लेकर पंचायत उस पर सौ रूपए नकद और तीस मन अनाज देने के दंड का निर्णय करती है। बिरादरी में रहने के इस मोह के कारण ही अपनी तमाम मुसीबतों एवं गरीबी के भयंकर परिणाम को एक ओर रखकर वह दंड स्वीकार लेता है। क्योंकि बिरादरी उसके जीवन में वृक्ष की भाँति जड़ जमाए हुए थी और उसकी नसें उसके रोम-रोम में बिंधी थीं। बिरादरी हो निकलकर उसका जीवन विश्रृंखल हो जाएगा। तार-तार हो जाएगा।

इसमें सन्देह नहीं होरी का चरित्र सामंती संस्कृति के ताने-बाने से बुना गया है और बेचारी गाँव की यथार्थ स्थिति के संदर्भ में उसका इस प्रकार विकास दिखलाया गया है कि जीवन्त व्यक्ति के रूप में वह टाइप बन गया है।

गोबर का व्यक्तित्व ठीक इसके विरोधी है। सामंती संस्कृति के जिन आधारभूत मूल्यों को होरी अपनाता है, उन सभी मूल्यों के प्रति न केवल वह असंतोष व्यक्त करता है वरन् उसके प्रति वह सक्रिय विरोध भी प्रकट करता है। वह जमीन का मोह छोड़कर शहरी मिल में मजदूरी करने में मर्यादा का कोई स्खलन नहीं समझता। वह न तो पुनर्जन्म में विश्वास करता है और न कर्मफलवाद को स्वीकारता है। परम्परा से चले आते धार्मिक अनुष्ठानों एवं पूजा-पाठ को वह स्वीकार नहीं कर पाता क्योंकि वे भी उसके लिए शोषण चक्र के आधार पर ही टिके हैं। किसके बल पर यह भजन-भाव और दान-धर्म होता है? इस प्रश्न का उत्तर है किसानों के बल पर। यह पाप का घन पचे कैसे? इसलिए दान-धर्म करना पड़ता है। भगवान का भजन इसीलिए होता है। भूखे-नंगे रहकर भगवान का भजन करें तो हम भी देखें। झुनिया से अन्तर्जातीय विवाह करके वह स्वच्छंद प्रेम में आपनी आस्था ही नहीं प्रकट करता है, अपितु वह तो रूढ़िगत नैतिक मूल्यों पर प्रहार करता है। वह पैसे के मूल्य को अच्छी तरह पहचान गया था अतः स्पष्ट शब्दों में अपनी मां का प्रतिवाद करते हुए कहता है- “रूपए हों तो न हुक्का पानी का काम है, न जात बिरादरी का। दुनियां पैसे की है, हुक्का पानी कोई नहीं पूछता।”

अगर होरी सामन्ती-संस्कृति का प्रतिनिधि पात्र है तो उसका पुत्र गोबर पूँजीवाद की उभरती शक्ति से उद्भूत उस मजदूर समुदाय का प्रतिनिधित्व करता है जो न केवल सामन्ती संस्कृति के विरोध में खड़ा अपनी शान्ति का परिचय देता है वरन् अपने अन्तर में छिपे समाजवादी उन सम्भावनाओं का भी संकेत देता है, जिसे हम इतिहास के प्रगतिशील तत्त्वों का दिशा-संकेत कह सकते हैं।

‘गोदान’ के रचयिता ने अपने युग के इस महान सत्य (होरी की) सामन्तवादी मान्यताओं में परिणति को ही अपना प्रतिपाद्य विषय बनाया है।

‘नागरिक जीवन की सार्थकता’

प्रायः सभी आलोचकों ने यह माना है कि ‘गोदान’ में अगर गाँव के चित्र अधिकाधिक रूप में आए हैं तो नागरिक जीवन के चित्र मात्र प्रासंगिक है। कुछ समीक्षक तो उसकी कोई भी सार्थकता नहीं ढूँढ़ पाते क्योंकि इस उपन्यास का वृहत् शरीर जिस देहाती जीवन के मेरुदंड पर घड़ा है उसकी प्रचुरता और विदग्धता को देखते हुए इतर प्रसंग ‘क्षेपक’ से लगते हैं; इन क्षेपकों के कारण ही उपन्यास स्थूलकाय हो गया है। आलोचकों का दूसरा समुदाय, जो नागरिक जीवन के चित्रण में शिल्प का थोड़ा – बहुत औचित्य देखता है, यह मानता है कि इस कृति द्वारा प्रेमचन्द भारतीय जीवन को उसकी समग्रता में चित्रित करना चाहते थे और उसके लिए वे प्रचलित स्थापत्य शैलियों के माध्यम से प्रयत्न कर भी चुके थे, जैसे ‘प्रेमाश्रम’, ‘रंगभूमि’ आदि में, किन्तु ‘गोदान’ के इन पूर्व प्रारूपों की अपूर्णता को देखकर मानो कई बार प्रयोग करने के बाद, वह उसे पा लेते हैं, जिसके लिए वे अटक रहे थे।

सामन्ती प्रणाली का आधार ग्रामसमाज है तो पूँजीवाद सभ्यता का केन्द्र शहर है। किसान को टूटकर मजदूर बनना है तो उसे किसी औद्योगिक समाज में ही माना होगा और अगर उस समय समाज का प्रतिनिधित्व करनेवाला नागरिक समाज चित्रित न होता, तो अपनी आस्था को कर्मभूमि में स्थापित करने का गोबर को अवसर ही कहाँ मिलता ?

‘गोदान’ का अध्ययन करनेवाले किसी भी सुधी पाठक से यह छिपा नहीं रहता कि ग्राम-कथा और नागरिक जीवन खडों को जोड़नेवाली घटनाओं के केन्द्र में ज्यादा स्पष्ट रूप से दो ही पात्र आते हैं- गोबर और जमींदार रायसाहब । जहाँ तक रायसाहब का प्रश्न है — उसका ग्रामकथा से अविच्छेद्यतः संबंध तो है ही, नागरिक समाज भी उनके व्यक्तित्व से पूरी तरह जुड़ा हुआ है। वे एक और सामन्तवादी प्रथा का प्रतिनिधित्व करते हैं और उस समय वे ‘शोषक’ के रूप में आते हैं। दूसरी ओर वे पूँजीवादी प्रणाली के चक्र के शिकार हैं अर्थात् ‘शोषित’ भी हैं। उसकी सामन्ती प्रथा पूर्ण रूप से खोखली हो उठी है जिसे रायसाहब आडम्बर और ऊपरी आवरण से छिपाना चाहते हैं, पर मूलतः उनकी भी स्थिति वैसी ही हैं जैसी उनके अन्य किसानों की। ‘होरी’ की ही भाँति वे भी कर्ज में आकंठ डूबे हुए हैं। वे भी वैसे की गिड़गिड़ाते और हाथ पसारते हैं जैसे होरी दातादीन, झिंगुरी सिंह और डुलारी सहुआइन के सामने गिड़ागड़ाता है। अन्तर है तो बस इतना कि होरी के थे शोषक छोटे स्तर पर शोषण करते हैं और रायसाहब का शोषण करनेवाले खन्ना जैसे कुछ बड़े पूँजीपति हैं। होरी और रायसाहब एक ही प्रणाली के दो छोर पर स्थित हैं पर जब प्रणाली के मूल पर ही आघात होगा, तो निश्चय ही दोनों नीचे गिरेंगे। अतः जिन झूठी मान-मर्यादाओं एवं खोखली सामाजिक रूढ़ियों से होरी का जीवन ग्रस्त है उससे किसी प्रकार रायसाहब मुक्त नहीं, अन्तर है तो केवल वातावरण का, बाहरी आवरण का, अभिव्यक्ति एवं आचरण के माध्यम का। यह ठीक है कि होरी की तरह उपन्यासकार ने उनकी मृत्यु को अनिवार्य नहीं समझा, पर इसमें सन्देह नहीं कि उनका अन्त अत्यन्त कुशलता के साथ उपन्यासकार ने अंकित किया है। वे जीवन के सभी आयामों पर पराजित लगते हैं, उनके जीवन का मेरुदंड ही टूट गया है, अतः वे अवश और जीवन से संपूर्ण रूप से विरक्त लगते हैं। उनकी संपूर्ण रूप से विरक्त लगते हैं। उनकी स्थिति वस्तुतः ‘जीवित मृत्यु’ का ही बोध कराती है।

स्पष्ट है — गोबर, रायसाहब और खन्ना के चरित्र और उनके व्यक्तित्व की आवश्यक परिणति ने नागरिक जीन के चित्रण को अनिवार्य बना दिया। पर प्रश्न उठाया जा सकता है — इस मूल-कथा के साथ मालती-मेहता-खन्ना गोविन्दी की उपकथा को जोड़ने में उपन्यासकार का क्या लक्ष्य रहा होगा ? क्या यह अंश सचमुच नागरिक पाठकों की अभिरुचि को ध्यान में रखकर लिखा गया है ?

प्रेमचन्द तो अन्त तक साहित्य को सोद्देश्य बनाने के पक्ष में रहे। कोरे मनोरंजन और रुचि-वृत्ति के लिए किसी अंश को ‘गोदान’ जैसे उपन्यास में स्थान देने की बात उनकी कला और साहित्य साधना के सर्वथा प्रतिकूल है। लगता है, मालती-मेहता, खन्ना-गोविन्दी के चरित्रों के माध्यम से वह प्राचीन और नई संस्कृति के मान-मूल्यों को उद्घाटित करना चाहते थे। सामन्ती प्रथा का विघटन और पूँजीवादी प्रणाली के प्रभुत्व का प्रभाव केवल आर्थिक व्यवस्था पर ही नहीं पड़ता । यह परिवर्तन तो समाज की संपूर्ण व्यवहारे प्रणाली पर ही अपना दबाव डालता है। बढ़ती परिस्थिति, नए मान-मूल्यों की माँग करती है और मेहता-मालती का प्रसंग इस सन्दर्भ का ही उदाहरण है।

सामन्तवाद से पूँजीवाद की यात्रा एक नए वर्ग-मध्यमवर्ग, को जन्म देती है, जिसका आधार एवं सामाजिक संबंध पहले के मध्यमवर्गीय समाज की स्थिति से, पूर्णतया भिन्न होता है। नए समाज में स्त्रियों का जीवन दूसरे स्तर पर अपनी सार्थकता ढूँढ़ती है। वह होम, विवाह और परिवारिक मान्यताओं को दूसरे दृष्टिकोण से ढेलने लगती हैं। मालती का जीवन को वस्तुतः इस बदले मूल्यों के सन्दर्भ में ही देखना उचित होगा। उसका व्यवहार उन्मुक्त है पर उच्छृंखल नहीं, वह अपने पैरों पर खड़े रहने की सामर्थ्य रखती है पर जीवन के साथ वह कोई गंभीर खिलवाड़ नहीं करती वह वैभव के बीच आमोद-प्रमोद ढूँढ़ती है पर खन्ना के धन पर फिसलती नहीं, वह विवाह को प्रेम का आधार नहीं बनाती। 'पर प्रेम के आधारपर विवाह का भवन खड़ा करना चाहती है। वह परिवार के बीच अपनी सत्ता, अपने व्यक्तित्व को खो देने की मान्यता को स्वीकार नहीं करती, अपितु, अपने व्यक्तित्व के प्रति पूर्ण सचते रहती है। संक्षेप में कहें तो "वह बाहर से तितलीहै, भीतर से मधुमक्खी।"

यह बात दूसरी है कि उपन्यासकार नागरिक-कथा को पूर्ण सहानुभूति के साथ अंकित नहीं कर पाया है और रह-रहकर उसकी आदर्शवादी मान्यताएँ नए मूल्यों के साथ टकरा जाती हैं। अपनी मान्यताओं के प्रति कठोर आम्रह रखने के कारण इन चरित्रों को ऐसे, मोड़ दिया है कि घटना प्रसंग कई स्थलों पर अविश्वसनीय हो उठता है। अविश्वसनीय होने का एक और कारण की है। उपन्यासकार ने कुछ ही नए मूल्यों को अपनी दृष्टि में रखा, उसे वह व्यापकता न दे पाया जिसे देना अपेक्षित था। अतः वातावरण के अधूरे सन्दर्भ में, नए मूल्यों को आदर्शवादी मोड़ देने के कारण असंगतियाँ स्वयमेव उद्भूत हो उठी है।

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार विविध वर्ग, जाति, स्वभाव, संस्कार, सामाजिक स्थिति, व्यवस्था आदि के जितने अधिक पात्र प्रेमचन्द में मिलते हैं, उतने औरो में नहीं। प्रेमचन्द ने स्वच्छंद प्रेम की समस्या भी गोदान में उठायी है जो जाति वर्ण-व्यवस्था पर सीधा प्रहार करती है। इन्होंने स्वच्छंद प्रेम को प्रश्रय दिया है। 'गोदान' में जब रायसाहब अपने पुत्र रुद्रपाल का विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध करना चाहते हैं तो मेहता साहब उनका मजाक बनाते हैं। फिर गंभीर स्वर में कहते हैं- "आप अपनी शादी के जिम्मेदार हो सकते हैं, लड़के की शादी का दायित्व आप क्यों अपने ऊपर लेते हैं, खासकर जब आपका लड़का बालिग है और अपना नफ़ा-नुकसान समझता है।" यद्यपि प्रेमचंद इस उपन्यास में रुद्रपाल और सरोज के प्रेम विवाह को बुरा नहीं मानते किन्तु यह प्रेमचन्द का स्थायीभाव नहीं है। वे इतना साहस कभी भी नहीं कर सके। इस हिचक का मुख्य कारण उनका संस्कारी मन है। उनका बुद्धि पक्ष प्रेमविवाह को वांछनीय मानता था किन्तु संस्कार वश उनकी आत्मा इसे स्वीकार नहीं कर पा रही थी। 'गोदान' में भी लेखक रुद्रपाल के चरित्र-चित्रण को पूरी सहानुभूति नहीं दे सके हैं। इससे उनके विकसनशील दृष्टि कोण का परिचय मिलता है। इस तरह भारतीय साहित्य के इतिहास में प्रेमचंद की भूमिका वही है जो भारतीय राजनीति के इतिहास में गांधी की। यही कारण है कि प्रेमचंद का नाम विश्वस्तर के उन गिने-चुने लेखकों में निर्विवाद रूप से लिया जा सकता है जिन्होंने महाजनी, सामंती अथवा मध्यमवर्गीय सीमाओं में बँधे हुए साहित्यको भारत के जन-जीवन से जोड़कर भारतीय साहित्य में नए युग का प्रारम्भ किया।





गोदान की प्रमुख समस्या

१) कृषक जीवन की समस्या :

‘गोदान’ प्रेमचन्द की औपन्यासिक साधना की श्रेष्ठतम उपलब्धि है जिसमें कृषक जीवन अपने सारे पाप-पुण्य के साथ चित्रित हुआ है।

प्रेमचन्द ने किसानों की गरीबी का चित्र खींचने के लिए ऋण समस्या को उपन्यास के केन्द्र में रखा। इस समस्या की गहराई में जाने का अर्थ ब्रिटिश सरकार की शासन-व्यवस्था के जन विरोधी चरित्र से था। बाढ़ या सूखा के कारण किसानों की फसल मारी जाती, तब भी लगान देना पड़ता। इसके लिए महाजनों से कर्ज लेना पड़ता था। एक रपट के अनुसार, “चीनी, किरासन, तेल नमक तथा दैनिक उपभोग की अन्य चीजों पर लगाये जानेवाले कर का भार अलग से बर्दाश्त करना पड़ता है। इसके विपरीत स्थायी बंदोबस्तवाले इलाकों के जमींदार को बहुत सारी सुविधाएं प्राप्त हैं। इन्हें बड़ी दूर तक फैली हुई जमींदारी के लिए नाम मात्र का शुल्क देना पड़ता है।” (इंडियन स्टेच्युटरी कमीशन की रिपोर्ट, १९३०)। कृषक परिवार खुद पूरा पेट नहीं भर पाता था और जानवर भी भूखे रहते थे। इसका असर उत्पादन पर पड़ता था। होरी को कई बार चबैना भी नहीं मिलता। भूखी रुपा हीरा के द्वार पर जाकर खड़ी हो जाती। केवल जैसे गरम कपड़े फटी हालत में भी कई पीढ़ियों तक चलते। कृषक जीवन का अकाल और भुखभरी से सदियों पुराना नाता था। होरी की मृत्यु स्वाभाविक कारणों से नहीं हुई। कागजों में मौत का कारण अक्सर बुखार या लू का लगना बताया जाता है लेकिन भारत में जितने मरते हैं, चार में से तीन आदमी गरीबी की बीमारियों के कारण अप्राकृतिक ढंग से मरते हैं। इन तक इलाज नहीं पहुंच पाता, पर दाता दीन जैसे पण्डित गोदान कराने पहुँच जाते हैं। धार्मिक भावना किसानों के आर्थिक शोषण को किस तरह खुला रास्ता देती है और रुढ़िवादिता से ग्रस्त कृषक किस प्रकार आर्थिक हत्या का शिकार होता है, होरी इसका बहुत अच्छा उदाहरण है।

देश का धन विदेशों में जाता था, फिर भी पूरा मुल्क कर्जदार साबित किया जा रहा था। किसानों की जमीनें छिनी जाने लगी। इन्हें मुकदमेबाजी में फसाया जाने लगा। बेलारी गांव पर पटेश्वरी, झिंगुरी सिंह, नाखेराम और पंडित मातादीन का आतंक बढ़ गया। सरकार की मालगुजारी, जमींदार का लगान और साहुकार-महाजन के सूद का थोड़ा हिस्सा चुकाकर अपनी गुजर के लिए किसानों के पास क्या बचता था, इसका जवाब ‘गोदान’ है। सूद की दर भयानक थी, फिर भी किसान उधार लेने के लिए अपनी जिंदगी गिरवी रख देता था, “पांच साल हुए होरी ने दुलारी से तीस रुपए लिए थे, तीन साल में उसके सौ रुपए हो गये, तब स्टैप लिखा गया। दो साल में उस पर पचास रुपये सूद चढ़ गया था।” मंगरु साह के मूल पचास रुपये दस साल में ३०० हो गये। एक किसान गिरधर ने २० रुपयें लिए थे, जिसके बदले १६० रुपये भरने पड़े।

उसकी खड़ी फसल लुट गयी। क्षुब्ध होकर वह नशे में होरी से कहता हूँ, सांझ हो गयी। जा पानी की बूंद भी कंठ तले गयी हो, तो गॉमास के बराबर एक इकत्री मुंह में दबा ली थी। उसकी ताड़ी पी ली। सोचा साल भर पसीना गारा किया है, तो एक दिन ताड़ी तो पी लूं। मगर सच कहता हूँ की नशा नहीं है। एक आने में क्या नशा होगा। हां, झूम रहा हूँ, जिसमें लोग समझे कि खूब पिये हुए है। भारतीय कृषि-व्यवस्था में विलगाव की अनुभूति का इससे अच्छा उदाहरण क्या होगा? पर प्रेमचंद ने इस बिलगाव के पीछे काम कर रही जालिम अर्थव्यवस्था की भी शिनाख्त की, जो कार्य नये कहानीकारों ने नहीं किया। गिरधर में अपने परिश्रम की कमाई को भोगने की कितनी बलवती तड़प है, लेकिन वह सर्ववंचित और लाचार है। वह ताड़ी पीकर पूरी समाज-व्यवस्था को मुंह चिढ़ाता है, बहुत-कुछ- 'कफन' के धीसू माधव की शैली में।

गिरधर महाजनी सभ्यता के जाल को समझता हूँ। उसे अपने परिवार की वास्वविक चिंता है। इसलिए वह कर्ज चुकाने से पहले एतराज करता है। होरी अपने नैतिकता बोध से पीड़ित है, जिस पर अंतर्मुखता की वजह से नैराश्य और उदासी की गहरी छाप है। होरी की ईख के १२५ रुपये निकलते हैं, पर झिंगुरी सिंह, जिसका संबंध शक्कर मिल और महाजनी कोठी-दोनों से था, सूद समेत १०० रुपये काटकर सिर्फ २५ रुपये होरी के हवाले करता है। होरी हताशा में कहता है, यह भी लेकर क्या करूंगा ठाकुर, यह तुम्ही ले लो। मेरे लिये मजूरी बहुत मिलेगी।” बचे हुए पचीस रुपये नोखेराम झपट लेता है। होरी के नैराश्य और उदासी पर एक सभ्यता की निराशा और उदासी की छाप है। कार्ल मार्क्स ने भारत के बारे में लिखा था, “इंग्लैंड ने भारतीय समाज के पूरे ढांचे को तोड़ डाला है और इसके पुनर्निर्माण के अभी तक कोई चिह्न दिखायी नहीं दे रहे हैं। पुरानी दुनिया का इस तरह बिछुड़ जाना और शोषण के दुष्टचक्र का पता नहीं लगता - यह हिंदुस्थानियों के वर्तमान दुखों पर विशेष प्रकार की उदासी की परत चढ़ा देता है और ब्रिटिश शासन के अधीन हिंदुस्थान को उसकी संपूर्ण प्राचीन परंपराओं और उसके समस्त प्राचीन इतिहास से काट देता है।

पंडित दातादीन ने होरी को बैल खरीदने के लिए ३० रुपये दिये थे, जो नौ साल में दो सौ हो गये। सूद बढ़ता जा रहा था। बाध्य होकर होरी को दातादीन के खेत में बंधुआ मजदूर बन जाना पड़ा। कृषक-वर्ग की त्रासदी का चरम रूप दासता का जीवन है। दातादीन का कहना था, “होरी की मजदूरी पर तीन रुपये महीने सूद के कटते जायेंगे।” ‘रायल कमीशन ऑन एग्रीकल्चर’ की एक रपट के अनुसार, “आर्थिक दासता किस हद तक पहुंच गयी और साहुकार की पकड़ कितनी मजबूत हो गयी, इसके दो उदाहरण दिये जा सकते हैं। बिहार और उड़ीसा में ‘कमिऔटी’ नाम की प्रथा प्रचलित थी। यह व्यवहारतः कृषि दासों द्वारा खेती की प्रथा है। कमिया लोग अपने मालिक के बांधे हुए नौकर होते थे। ऋण के मूल पर जो सूद आता है, उसके एवज में उन्हें सारे मृत्योचित काम करने पड़ते थे।” मजदूरी करते होरी के थोड़ा-बहुत सुस्ताने पर दातादीन किस बुरी तरह डांटता-डपटता है, इसका दृश्य प्रेमचंद ने अपनी कुशल लेखनी से अंकित किया है।

बंधुआ मजदूरी के विरुद्ध कानून बन जाने के बावजूद देश के विभिन्न गांवों में यह प्रथा आज भी कायम है। महाजन और मजदूर गांव के ऐसे दैनंदिन के रिश्तों से बंधे रहते हैं कि खूंटो से रस्सी खोल दी जाय, तब भी बैल की तरह खटनेवाले आदमी महाजन के दरवाजे से हटने की हिम्मत नहीं कर सकते। १९८० में त्रिपुरा में दो रुपये रोज देखकर सैंकड़ों आदिवासी महिलाओं

और पुरुषो से रात दिन मजदूरी कराने और उनपर तरह तरह के अत्याचार करने की घटनाएं प्रकाश में आयी थीं। ये मजदूर कहीं कहीं पर कटीले तार की दीवारों के भीतर बनी बस्तियों में जीवन व्यतीत करते हैं। मध्य प्रदेश, बिहार आंध्र, उत्तर प्रदेश के कई जिलों में बंधुआ मजदूरी की प्रथा आज भी चालू है। सैकड़ों उदाहरण हैं। ऐसा संभव नहीं है कि सूद की ऊंची दर पर कर्ज लेकर किसान रुपये न चुकाये। किसानों को राहत न देने के लिए अंग्रेज सरकारने कुछ कानून पास किये थे मसलन बंगाल में १९३३ का मनी लेंडर्स एक्ट, आंध्र प्रदेश में १९३५ का डेट रिलीफ एक्ट। आज भी ढ़ेरो कानून है। लेकिन इन कानूनों का वास्तविक फायदा किसानों तक नहीं पहुंच पाना। उनकर जीवन की अलग है। पुराने जमाने के दातादीन न नये जमाने के झिंगुरी सिंह से कहा कि सरकार भी महाजनो से सूद घटाने को कह रही है। नहीं तो डिग्री नहीं मिलेगी इस पर झिंगुरी सिंह ने जवाब दिया। पंडित मैं तो एक बात जानता हूं तुम्हे गरज पड़ेगी तो सौ बार रुपये उधार लेने आओगे और व्याज जो चाहेगे लेगे। सरकार अगर आसकियों को रुपये उधार देने का बंदोबस्त न करेगी तो हमे इस कानून से कुछ नहीं होगा हम दर कम लिखायेगे लेकिन एक सौ में पचीस पहले ही काट लेंगे। यह था महाजनी सभ्यता का बीभत्स रूप। पुराने कानून के अनुसार कर्ज के बढ़ने से किसानों की जमीन छीनना संभव नहीं था। अंग्रेजी राज में यह संभव था। उन्हें जेल भेजा जा सकता था। ब्रिटिश उपनिवेशवाद महाजनी सभ्यता का पोषक था। वह देश के आर्थिक शोषण में जमींदारों और महाजनो को भी थोडा बहुत हिस्सा देना चाहता था ताकि पूरा मुल्क लुटके एक व्यापक शिकंजे में कसा रहे। महाजनो को लुटने के छुट न देने पर उसे लगान नहीं मिल सकता था, क्योंकि किसान कर्ज लेकर लगान चुकाते थे। भारत की व्यापक आबादी को दबाने के लिए इसी तरह की सामाजिक आर्थिक वर्ग को भी सुविधाएं मिल जाती थी मध्य शोषक वर्ग को लुटने की हूट देकर इस वर्ग को भी सुविधाएं मिल जाती थी मध्य शोषक वर्ग को लुटने की छूट देखकर ही पुंजीवादी था। तानाशाह शासक वर्ग अपनी सत्ता की हिफाजत कर सकता है। कृषक वर्ग जितनी अधिक अंदरूनी समस्याओं से घिरा रहेगा। शोषक शासक वर्ग की राजनीतिक सुरक्षा उतनी ही पक्की रहेगी। महाजनवाद के समर्थक कानूनों के जरिए ही १९२८-२९ में ३३ करोड़ १० लाख रुपये की मालगुजारी वसूल की गयी। इस समय के औसत दासों को आधार मानने पर करीब ४० करोड़ रुपये का कृषि उत्पादन का निर्यात किया गया। १९३३-३४ में मात्र ४७३ करोड़ रुपये की पैदावार हुई थी फिर भी किसानों से जबरदस्ती ३० करोड़ रुपये की माल गुजारी वसूली गयी थी। किसानों को अन्य भी कई तरह की रकमें चुकानी पड़ी थी। इसके लिए उन्हें अपनी जमीनी भी बेचनी पड़ी थी। इस व्यापक आर्थिक संकट का उग्र रूप बंगाल के अकाल में देखने को मिला था। उपर्युक्त आर्थिक तस्वीर के बाद स्पष्ट हो जाता है कि किस आर्थिक प्रक्रिया में व्यापक खेत मजदूर वर्ग का उदय हुआ और होरी भी उसका एक सदस्य बना। सिर्फ बोआई करा देने के कारण होरी को अपने खेत की आधी फसल दाता दीन को दे देनी पड़ी थी। उसने यह जुल्म भी यह सोच कर स्वीकार किया था।

“और कुछ न मिलेगा, लगान तो निकल ही आयेगा। नहीं अबकी बेबाकी हुई तो बेदखली आयी धरी है।” सिर्फ होरी नहीं, धनिया, रूपा, सोना एक तरह से पूरा परिवार खेत मजदूर बन जाता है। डांट खाता है। और व्यापक यंत्रणा झेलता है। चौथे दशक के प्रारंभ में खेतों के पतन के परिणामस्वरूप खेत मजदूरों की संख्या बढ़कर ३ करोड़ ३० लाख पहुंच गयी थी। १८८८ में यह संख्या सिर्फ ७५ लाख और १९२२ में २ करोड़ १० लाख थी। भूमिहीन खेत मजदूरों की संख्या वृद्धि की दर में एक भयानक उछाल आयी। शिकमी ग्रस्तकार भी बढ़े। इस प्रकार भारतीय किसान की दरिद्रता बढ़ती गयी।

गोदान में जमींदार वर्ग का खोखलापन किन संदर्भों में उभरा है? जमींदार राय साहब अपनी टूटती मनःस्थिति प्रकट करते हुए कहते हैं, मुझे यही आश्चर्य होता है कि क्यों तुम्हारी आहों का दावानल हमें भस्म नहीं कर डालता। मगर नहीं आश्चर्य करने की बात नहीं। भस्म करने में तो बहुत देर नहीं लगती। वेदना भी थोड़ी ही देर होती है। हम जो जो और अंगुल-अंगुल और पोर-पोर भस्म हो रहे हैं। लक्षण कह रहे हैं की बहुत जल्दी हमारे वर्ग की हस्ती मिट जानेवाली है। मैं उस दिन का स्वागत करने के लिए तैयार बैठा हूँ।

प्रेमाश्रम का जमींदार सार्वजनिक चारा गाह छीन लेता है, तालाब का पानी रोक लेता है और झोपड़ियों में आग लगवा देता है गांव में रहने वालों पर उसके कारिंदे विभिन्न प्रकार के अत्याचार करते हैं। प्रेमचंद की कई कहानियों में जमींदारों के शोषण और दमन का हृदयदायक चित्र है। लेकिन गोदान के राय साहब का हृदय इतना मुलायम क्यों है? एक ओर उनकी उँची भान है, रामलीला के आयोजन के बहाने सामाजिक शक्ति का प्रदर्शन है, शिकार का शौक है, मालती की महिला समिति में किसी से भी कम चंदा नहीं देने का रौब और चुनाव जितने की तमन्ना है। दूसरी ओर उन पर खन्ना का भारी कर्ज है। अपने ही बेटे का विद्रोह और बेटे की दुखी जिंदगी है, तंखा द्वारा अपमान है, मुकदमे हैं और इन सब के साथ जुड़ी हुई है उनकी गिरती आर्थिक स्थिति। लेकिन राय साहब की खोखली शान जैसा भी चित्र हों, उनके मन में नये सिरे से उठने की भावना जन्म ले रही है यह स्पष्ट हो जाता है। उनकी सहृदयता, मिलनसारिता और विनम्रता नव सामंतवाद के अभ्युदय की व्यावहारिक आधार शिला है। अपने को दयावान दिखाकर अथवा होरी से दो चार मीठी बातें करके वे होरी के वर्ग को मधुर ढंग से लूटना चाहते हैं। पहले के जमींदारों की अपेक्षा राय साहब के शोषण की भैली बारीक और परिष्कृत है। झुनियाँ को रखने को आरोप में गांववालों ने होरी पर जो डांड भी रकम बैठायी थी, राय साहब उसे खुद हड़पना चाहते हैं। यह है होरी के प्रति उनके सद्भाव और तुच्छता का नमूना।

जिनके पास पहले से धन है। एक विशेष परिस्थिति में वे अगर कमजोर भी हो रहे हों तो समाज में दस तरफ से लोग उन्हें संभालने के लिए दौड़ पड़ते हैं। पूंजीपति खन्ना राय साहब को शेर बचाना चाहते हैं और उनकी वर्ग स्थिति का रुपान्तरण करना चाहते हैं। गोदान के विभिन्न पात्र राय साहब आस पास जिस तरह घुमते रहते हैं, इससे भी लगता है कि सामंती वर्ग का पतन नहीं हुआ। इसका रुपान्तरण हो रहा है और समाज में भी इसकी महता गिरी नहीं है। राजा सुर्य प्रताप सिंह और राय साहब अमर पाल के बीच चुनाव प्रति द्वंद्विता के कारण इस वर्ग में फूट दिखायी पड़ती है, लेकिन शीघ्र ही फूट मिट जाती है। चुनाव में राय साहब की जीतसे उनमें नयी उम्मीद पैदा होती है, तंखा आकर फिर उनकी चाटुकारिता करने लगता है, और राजा साहब तो राय साहब के घर अपनी बेटे की रिस्ता तक कर देने के लिए लालापित दिखते हैं। स्मरण रहे की राजा साहब खन्ना के बैंक के एक डायरेक्टर भी हैं। अर्थात् सामंतवाद और पूंजीवाद के बीच एक ऐसा संबंध निर्मित हो रहा था, जिसमें दोनों दीर्घ-स्थायी मधुर शोषण चला सके। राजा साहब से संबंध स्थापित कर अपनी सामाजिक-आर्थिकवर्ग की स्थिति मजबूत करके लोग के कारण राय साहब अपने एक मात्र बेटे रुद्रपाल की इच्छाओं का आदर नहीं करते, उसे टुकरा देते हैं, क्योंकि वह सामंती परंपराओं के विरुद्ध मालती की बहन सरोज से प्रेम विवाह करना चाहता था। स्वच्छतावाद की लहर इस लहर में मौजूदा बाजी मारती सामाजिक व्यवस्था से निकलने की छटपटाहट थी, जो शिक्षा के प्रसार के कारण बढ़ गयी थी। तत्कालीन जमींदार वर्ग आधुनिक शिक्षा, जन तांत्रिक मुल्य, सामाजिक सुधार और प्रगति का इसी कारण विरोधी

था। राय साहब का मत है “पूंजी और भिक्षा, जिसे मैं पूंजी का ही एक रूप समजता हूँ इनका किला जितना जल्दी टूट जाए, उतना ही अच्छा। पर वे पूंजीवाद के उस मुनाफोवाले पथ से अपना संबंध जोड़ने के लिए बराबर तत्पर थे, जिस पक्ष से जुड़कर वे मजबुत हो सकें। खन्ना इसका उदाहरण है। सामंती-वर्ग का एक नया आधार पैदा हो रहा था, तभी इसमें बर्बरता पुनः जाग रही थी। राजा सूर्यप्रताप राय साहब के बेटे की प्रेमिका को गायब कर देने की योजना बनाने लगे थे। प्रेमचन्द ने टिप्पणी की है, ” गुफावासी मनुष्य दोनों ही व्यक्तियों में जीवित था। राय साहब ने उसे ऊपरी वस्त्रों से ढंक दिया था। राजा साहब में वह नग्न था।

राय साहब का सितारा बुलंद हो गया। उनके तीनों मंसूबे पूरे हो गये। कन्या की शादी धूमधाम से की गयी, मुकदमा जीत गये और निर्वाचन में सफल ही नहीं हुए, होम मेंबर हो गए S। नैनीताल, मंसूरी और शिमला में बंगले खरीद लिये गये। ‘राजा’ की पदवी मिल गयी। उनकी स्वीकारोक्ति है, “यह है जीवन। नहीं, विद्रोहियों के फेर में पड़कर व्यर्थ बदनामी ली, जेल गये और अफसरों की नजरों से गिर गये।” राय साहब ने समाज में अपना खोया सम्मान पुनः प्राप्त कर लिया। पत्रकारिता की नीति को वह रुपयों के बल से प्रभावित करते हैं और किसानों की आवाज रुकवा देते हैं। राय साहब की खूबी है कि वह कठिन परिस्थितियों में भी घबड़ते नहीं। उन्हे लोगों को पटाने की कला आती है। वह ‘बिजली’ के संपादक ओंकारनाथ से कहते हैं, “आखिरकार मैं आपके पत्र को पंचगुना चंदा क्यों देता हूँ। केवल इसलिए कि वह मेरा गुलाम बना रहे। मुझे परमात्मा ने रईस बनाया है। पचहत्तर रुपया देता हूँ कि आपका मुंह बंद रहे। जब आप घाटे का रोना रोते हैं और सहायता की अपील करते हैं और ऐसी शायद ही कोई तिमाही जाती हो जब आपकी अपील न निकलती हो, तो ऐसे मौके पर मैं आपकी कुछ न कुछ मदद कर देता हूँ। किसलिए दीपावली दशहरा होली में आपके यहा वैरा भेजता हूँ और साल में पच्चीस वार आपकी दावत करता हूँ किसलिए पत्रकारिता पर नियंत्रण आज का शासक शोसक वर्ग कुछ भिन्न रुपों में करता है। बैना कि जगह विज्ञापन और दावत की जगह काकटेल पार्टी। प्रेमचंद ने ओंकारनाथ की सुविधावादी प्रवृत्तियों का पर्दाफाश करते हुए दिखलाया कि गरीबों पर अत्याचार की खबरे प्रकाशन से पहले खरीद ली जाती थी। प्रेमचंद सध्य एक प्रतिबद्ध पत्रकार के लिए उनके युग से दुलमुल पत्रकारों की संख्या कम नहीं थी। ओंकारनाथ उन्ही चरित्रहीन पत्रकारों भूमि से एक था। भारत में आधुनिक समाज में राजा और जमींदारों की अब वैसी भूमिका नहीं है जैसी पहले थी। फिर भी यह मानना गलत है। कि सामंती वर्ग का पूर्णतः हास हो गया। राय साहब हार का अनुभव इसलिए करते हैं कि उनका बेटा रुद्रपाल उनके नियंत्रण के बाहर था। बेटी मिनाक्षी की जिंदगी बरबाद हो रही थी। उन्हें डिग्री का उतना दुःख नहीं हुआ जितना जितना अपने अपमान का अपमान से भी बढ़कर दुःख था कि अपने बेटे ने ही दगा दी।” अन्यथा उस वक्त जमींदार वर्ग का राज-नैतिक आर्थिक आधार एकदम समाप्त नहीं हो रहा था। इसका रुपांतरण अवश्य हो रहा था। भारत के जमींदार समझ गये थे, राष्ट्रीयतावादियों के साथ-साथ ब्रिटिश शासक-वर्ग को भी लगने लगा था कि बढ़ते हुए कृषक-विक्षोभ के परिणामस्वरूप अब भारत की अर्थव्यवस्था में जमींदारों की उत्पादक भूमिका नहीं है। यही सोचकर राय साहब में अस्तित्व की बैचैनी पैदा हुई। उन्हें विश्वास तो था कि अंग्रेज उनका पक्ष लेंगे, लेकिन इनके पैर भी अब उखड़ने वाले थे। अतः रुपांतरण के लिए वे नये आधारों की ओर बढ़े। भारतीय सामंतवाद की जड़े धर्म, जाति और समाज व्यवस्था में गहरी थी ही।

‘गोदान’ में प्रेमचन्द ने इस नये रूपांतरण पर कम ध्यान दिया। उनकी दृष्टि केवल राय साहब की अस्तित्व की बैचैनी पर थी। वह अनावश्यक रूप से कहीं-कहीं इस बैचैनी से संवेदित भी हो गये, जब कि राय साहब के मन में कृषक-वर्ग के प्रति कोई वास्तविक सहानुभूति नहीं थी। ऊपर से वह सहानुभूति जताते जरूर थे, जिस पर मेहता ने साफ शब्दों में यह कहकर आपत्ति की थी कि सिद्धांत और कर्म में एकता होनी चाहिए, सिर्फ मौखिक सहानुभूति का कोई अर्थ नहीं है। राय साहब के अंतर्द्वंद को प्रेमचन्द ने इस रूप में रखा है, “राय साहब को अपना राजसी ठाठ निभाने के लिए वही असामियों पर इजाका और बेदखली और नजराना करना और लेना पड़ता था, जिससे उन्हें घृणा थी। वे प्रजा को कष्ट न देना चाहते थे। उनकी दशा पर उन्हें दया आती थी, लेकिन अपनी जरूरतों से हैरान थे।” तत्कालीन जमींदार-वर्ग की क्रूरता अंग्रेजों की औपनिवेशिक क्रूरता का एक आर्थिक रूप थी। मुगल शासन के पतन काल में जमींदार स्वयं अधिक अधिकार संपन्न हो गये थे। वे सरकार के प्रतिनिधि कम थे और किसानों से जबरदस्ती लगान वसूल करने वाले जोतदार ज्यादा थे। अंग्रेजों के शासनकाल में जमींदारों ने सरकार की ओर से कृषकों के अनुदार-रुढ़िवादी शोषक की भूमिका अदा की। अंग्रेज सरकार ने इन जमींदारों को अपना विशेष प्रतिनिधित्व प्रदान किया तथा इनके परंपरागत स्वरूप को पुर्नगठित किया। जमींदारों ने भी राष्ट्रीय-आंदोलन के विरुद्ध सरकार की हमेशा मदद की, क्योंकि उन्हें भय था कि अंग्रेजों के हटते ही उनके वर्गीय स्वार्थों पर आघात पहुंचेगा। १८५१ में इन्होंने ‘ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन’ के नाम से अपना एक मुख्य संगठन भी कायम कर लिया था।

जमींदार निरंतर संगठित हो रहे थे। उनका शोषण बढ़ता जा रहा था। किसान आर्थिक अत्याचारों को आम तौर पर चुपचाप सह लेते थे। अकाल, बाढ़, सूखा इनके ऊपर से गुजरते रहते थे। वे कर्ज के भार से हमेशा बोझिल रहते थे। इन हालात के बीच जब पानी हद से गुजर जाता था, इनके मन की संचित आग कभी-कभी फूट पड़ती थी। किसानों ने आज तक संगठित होकर अपना राष्ट्रीय संघर्ष खड़ा नहीं किया, लेकिन स्थान-स्थान पर कई स्वतःस्फूर्त और अर्ध-संगठित आंदोलन हुए, जिनकी उपेक्षा नहीं कि जा सकती। ‘गोदान’ के प्रारंभ में धनिया खुशामद के लिए जमींदार के पास जा रहे होरी से कहना चाहती है, “हमने जमींदार के खेत जोते हैं, तो वह अपना लगान ही तो लेगा। उसकी खुशामद क्यों करें, उसके तलवे क्यों सहलाएं?” धनिया किसान को दयनीय रूप में नहीं देखना चाहती थी और इसकी खोयी आत्मशक्ति से परिचित कराना चाहती थी। वह एक विद्रोही थी और उसकी विद्रोह-चेतना के पीछे भारतीय किसानों का एक लंबा संग्राम था।

भारत में कृषकों के असंतोष तथा इनके संग्राम का एक लंबा इतिहास है, इसका प्रभाव ‘गोदान’ पर पड़ा है। थोड़ा इस इतिहास पर गौर करना चाहिए। बंगाल के रंगपुर जिले में १७८३ में भारत का पहला महत्वपूर्ण कृषक-विद्रोह हुआ। मुगलों के हाथ से शासन छीनते ही अंग्रेजों ने कृषि-व्यवस्था पर अपने पंजे गड़ाना आरंभ कर दिया था। फलतः यहां के किसानों पर बढ़े लगान का अतिरिक्त बोझ पड़ा। लगान न दे पा सकने के कारण किसानों की जमीनें छीन ली जाती या कम दर में बेच दी जाती। उनपर हिंसात्मक अत्याचार होते। जमींदारों पर जो कर लगाये जाते वह रैयतदारों से वसूल किया जाता। जमींदार अलग से भी कर लगाते। वे किसानों को पीटते तथा उनके घर जला देते। औरतों के साथ बलात्कार करते। नतीजन रंगपुर के निवासी एक दिन विक्षुब्ध हो उठे। अपने मुखियों के नेतृत्व में उन्होंने राजा और अंग्रेज सरकार कि खिलाफ जेहाद बोल दिया। २४ मार्च, १७८३ की ‘प्रासिडिंग्स ऑफ कमिटी ऑफ रेवेन्यू’ में एक स्थान पर दर्ज है खैदार उजड़ गये हैं हमारे घरों में कुछ नहीं बचा। अन्न पशु और दुसरी

वस्तुए बिक गयी। हमे अपनी औरतो बच्चो तक को बेच देना पड़ा। लेकिन इतना ही काफी नहीं था तहसीलदारो को हमारे गावो मे भेजा जाता था। और वे हमे पेड़ो से बांधकर छड़ी से पीटते थे। और कभी कभी मूल नोच लेते था। अंग्रजी राज्य के आरंभ से ही किसानो पर बढ़ती जाने वाली मध्यकालीन बर्बरता का यह एक साधारण नमूना है। अंग्रेजोने सारा दोष जमींदार वर्ग पर लादकर भी उसे अपना वफादार दिवान बना रहने दिया और उन्हे करभार बढ़ाकर आदेश दिया कि वह किसानो से पूरी रक्कम वसूलकर अंग्रेजी खजाने मे जमा करें। रंगपुर के अलावा वहानी और फेराजी विद्रोह (१८३०-७०) हुए। १८५५ मे संभाल विद्रोह हुआ। इन्ही सबने संगठित होकर १८५७ के सिपाही विद्रोह की पृष्ठभुमि का काम किया। १८७३ मे पावंना का किसान-आंदोलन चला।

बीसवीं शताब्दी प्रारंभ होने से पहले भारत का किसान अनगिनत दुर्भिक्ष झेल चुका था, जिनमें सर्वाधिक विनाशकारी दुर्भिक्ष १८७०, १८९६-९७ के थे। काँग्रेस ने भी प्रारंभ मे किसानों की जरूरतों पर ध्यान नहीं दिया, जितना भारतीय उद्योगों की व्यापारिक सुरक्षा का ख्याल रखा। १९१७-१८ में महात्मा गांधी के नेतृत्व में चंपारन के किसानों ने नील बगीचा के मा लिकों के खिलाफ संघर्ष किया। मालिकों में अधिकांश यूरोपीय थे। संघर्ष के बाद किसानों को कुछ सुविधाएं मिलीं। लेकिन अत्यधिक लगान, ऋणभार जैसे बुनियादी सवालों पर स्थिति पूर्ववत् रही। कर वसूली के विरुद्ध महात्मा गांधी ने कैसा के किसानों का आंदोलन चलाया। असहयोग आंदोलन (१९१९) को कृषकों ने भूमिकार के विरुद्ध संघर्ष माना और इसमें हिस्सा लिया। केरल के मोपला-विद्रोह (१९२२) का आधार आर्थिक था, पर आगे चलकर सांप्रदायिक हो गया, क्योंकि जो किसान मालाबार के ब्राम्हण जमींदार के शोषण के शिकार थे, वे मुसलमान थे। उत्तर प्रदेश के कई जिलों में किसानों का संघर्ष हुआ। १९२६-२७ में संगठित संघर्ष के लिए किसान सभाओं की स्थापना हुई। १९२८-२९ में वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में बारदोली में किसानों ने महान संघर्ष किया और सफलता पायी। कृषक असंतोष के प्रखर प्रस्फुटत आगे चलकर तेल जान और नक्सलवादी आंदोलनो में हुए, पर ये सभी आंदोलन कुचल दिये गये।

विभिन्न संघर्षों से गरीब कृषकों में एक नयी चेतना पैदा हो रही थी। इसका प्रतिबिंब 'गोदान' की धनिया के साथ गोबर में भी है। सदियों से दबाये और सताये गये किसानों के शांत जीवन में असंतोष की जिन छिटफुट चिनगारियों को प्रेमचंद ने तलाशा है, वे अचानक नहीं पैदा हो गयी थी। इनके पीछे सामंती और महाजनी सभ्यता के विरुद्ध कृषकवर्ग के ऐतिहासिक संघर्ष की चेतना थी। यह सही है, कि यह उतनी व्यापक नहीं थी। कृषक-समाज पर जमींदार और महाजन वर्ग का पंजा बहुत सख्ती से गड़ा हुआ था। 'गोदान' का लक्ष्य अंधकारपूर्ण समाज में रहने वाले किसानों को विद्रोह की इन्ही चिनगारियों से परिचित कराना था।

२) समाज व्यवस्था की समस्या :

प्रेमचंद के कथा साहित्य मे परिवार और व्यक्ति के अंतर्संबंध का बहुत महत्व है। कथाकार ने लक्षित किया कि यह अंतर्संबंध नये आर्थिक दबाव के कारण बदल रहा है। संयुक्त परिवार टूट रहे है। आधुनिक सामाजिक विकास की इस अनिवार्य परिणति को समझकर भी प्रेमचंद टूटे परिवार के सदस्यो के बीच भावनात्मक संबंधो की तलाश से नही चूके। होरी तमाम लड़ाई झगडे के बाबजूद हीरा की अनुपस्थिति मे उसका खेत जोतता है। बांस काटने की छटना लेकर जब चौधरी और दुनिया मे विवाद हुआ दुनीया का रोना सुनकर होरी दौड़ा आता है होरी ने

समझा चौधरी ने दुनिया को मारा है। खुन ने जोरा मारा और अलगगोझे की उंची बांध को तोड़ता हुआ सब कुछ अपने अंदर समेटने के लिए बाहर निकल पड़ा। हीरा भी भाई के सामने आखे नीची कर लेता है। प्रेमचंद इस तथ्य से परिचित थे कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था की प्रगति के लिए केवल परिवार का संयुक्त रहना जरूरी है गांव में व्यापक सामाजिक सोहार्द और सहयोग भी जरूरी है। वैयक्तिक स्वार्थ के आधार पर परिवार के टूटने से भी टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। इसका उत्पादन पर बुरा असर पड़ता है। औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था में परिवार का विघटन उतना भले न हो, ग्रामीण अर्थव्यवस्था में यह टी.वी. है। कृषको में अगर फूट हो। सामंती शोषण-व्यवस्था से मुक्ति संभव नहीं है। इसलिए संयुक्त परिवार के टूटने के पीछे कार्य कर रही व्यक्ति स्वातंत्र्य की भावनाओं को पहचानते हुए भी प्रेमचंद मजदुरों तथा किसानों को वर्गीय चेतना के आधार पर एकजुट करना चाहते थे। उनकी फूट की बीमारी दूर करना चाहते थे।

इस संदर्भ में प्रेमचंद कुछ पुराने मानवीय और पारिवारिक मूल्यों का संरक्षण प्रासंगिक मानते थे, तथा उनकी अर्थवत्ता स्वीकार करते थे। सैकड़ों हजारों वर्षों तक दीर्घ संघर्ष करके मनुष्यों ने विवाह परिवार सामाजिक बंधुत्व प्रेम परस्पर सहभोग आदि मूल्य अर्जित किये थे। समाज के ऐसे उज्ज्वल मूल्यों अथवा संस्थाओं को खोकर आधुनिक मनुष्य अपने ऐतिहासिक संघर्ष की महान उपलब्धियों से वंचित रह जायेगा तथा अगामी लड़ाई में कमजोर पड़ेगा। प्रेमचंद के मूल्य संरक्षण का यह दृष्टि कोण उनके पूरे कथा साहित्य में मिलेगा। हम पाते हैं कि जिन स्थानों पर वह परिवार को टूटने से बचाना चाहते हैं वहाँ उनकी बनियादी इच्छा कुछ खास मूल्यों को बचाने की है, जिनके बिना आधुनिक जीवन खोखला है।

प्रगति की यथार्थवादी अवधारणा के कारण प्रेमचंद कई नये कथाकारों की भाँती परिवार को नष्ट कर देने का आव्हान नहीं करते। बल्कि इसके मानवीय और जन तांत्रिक स्वरूप को विकसित करने पर बल देते हैं। कृषी एवं छोटे उद्योगपती भारतीय समाज व्यवस्था में विवाह परिवार सामाजिक बंधुत्व और पारस्परिक सहयोग के भावों की प्रासंगिता असंदिग्ध रूप से है। पूंजीवादी आर्थिक संकट के कारण आज के भाव नष्ट हो रहे हैं, सामाजिक संबंध का विघटन हो रहा है। लेकिन जब जनता जन तांत्रिक ओर आगे चलकर समाजवादी क्रांती सफल करेगी जिस प्रकार वह आर्थिक समता हासिल करेगी, उपयुक्त मानवीय मूल्यों तथा संस्थाओं को भी अपने जीवन में पुन प्रतिष्ठित करेगी।

आधुनिक जीवन में संयुक्त परिवार में रहते हुए घुटन का बोध होता है। इसके कुछ कारण हैं। परिवार के जिस सामंती रूपका विकास भारतीय समाज में हुआ वह धार्मिक बंधन से जकड़ा हुआ और आर्थिक स्तर पर एकाधिकारवादी है। संयुक्त परिवार में मानवीय व्यक्तित्व का विकास संभव नहीं है, क्योंकि ये खले हुए नहीं हैं। जड़ धार्मिक संस्कार के कारण भारतीय परिवार का बुनियादी चरित्र अलोकतांत्रिक है। समाज के कठोर ढाँचे से परिवार का यह लौह ढाँचा विकसित हुआ है। ऐसे परिवार में आधुनिक आदमी की बेचैनी बढ़ी है। यह भी खुद आगे चलकर अपने परिवार को कठोर शिकजे में फंसे रखना चाहते हैं। अर्थात् कठोर संयुक्त परिवार के संस्कार समाज से मिट नहीं पाते। परिवार का ढाँचा अमानवीय इसलिए है कि इस में संबंधों का रूप जन तांत्रिक है। मानवीय संबंधों का कटु रूप पिता पुत्र एवं स्त्री-पुरुष दोनों धरातलो पर मिलता है और जीवन को खोखला कर देता है। गोविंदी और खन्ना दांपत्य जीवन में कटुता इसलिए आयी कि खन्ना का नारी के प्रति दृष्टिकोण अमानवीय है। वह औरत को पदार्थ समझता है। जबकि गोविंदी परंपरागत भारतीय नारी की भाँती एक निष्ठ प्रेम के आदर्श पर चलती है।

पुरुष-प्रभुत्ववादी समाज में विवाह के वाद औरत पर शक्ति प्रदर्शन की घटनाएं आम हैं। औरत की इच्छा का कोई महत्त्व नहीं है। यह जानवरो की तरह खटती है और पुरुष पाशविक अत्याचारो की शिकार होती है। शहर जाते हुए गोबर की भेंट एक कृषक दंपति से हुई। दोनो अपने में झगड़ रहे थे। गोबर के बीच में पड़ने पुरुष गुस्से में कहता, है, “मेरी औरत है, मैं उसे मारुंगा कांटूंगा। तुम कौन होते हो बोलने वाले” नारी-यातना के मुल में यही दृष्टि कोण काम करता है जिसके तहत पुरुष अपनी औरत को व्यक्तिगत संपत्ति समझता हैं। यही गोबर औद्योगिक सभ्यता के परिवेश में एक समय खुद अपनी औरत को पीटता है। होरी धनीया को पीटता है। खन्ना गोवींदी को यातना देता है। गांव और शहर दोनो जगहो पर ऐसा होता हैं। स्त्री पुरुष संबंधका यह अमानवीय रूप उस परिवार तथा समाज-व्यवस्था की उपज है। जिसका बुनयादी ढांचा अजनतांत्रिक है।

एक आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार विवाह की आज कोई प्रांसगिकता नहीं है, क्यों की यह संस्था स्त्री-पुरुष दोनो के व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास में बाधक है। गोदान में गपडू नामक एक काश्मीरी के बड़े घराने का किस्सा है, जहा मुनीया दुध देने जाया करती है। उसकी तीन लड़कीयो है, जो ब्याह करना पसंद नहीं करती पर भीतर ही भीतर खूब गुलछरें उडाती। वे प्रसन्न है; इस लिए किसी समाज का डर नहीं हैं। क्या एक खुले समाज का अर्थ यही है, कि इसमें परिवार और विवाह न हो ? इतना निश्चित हैं की विवाह स्त्री और पुरुष के जीवन की एक मानवीय संस्था का रूप तभी ग्रहण कर सकता है, जब दोनो में बराबरी और सहयोग की भावनाहो। मेहता का विचार है, विवाह को मैं सामाजिक समझौता समझता हूं और इसे तोड़ने का अधिकार न पुरुष का है न स्त्री को, समझौता करने के पहले आप स्वाधीन है, समझौता हो। जाने के बाद आप के हाथ कट जाते है। स्त्री पुरुष संबंधो में एक नयी मानवीय चेतना विकसित हो, तभी विवाह सामाजिक प्रगति में एक मजबूत संस्था के रूप में सहायक हो सकता है। परिवारिक जीवन व्यतीत करते हुए गोबर और झुनियाँ परस्पर अजनबी की तरह रहते है लेकिन जब इनमें नयी मानवीय चेतना पैदा होती है। औद्योगिक सभ्यता का बुरा असर मिट जाता हैं। नयी मानवीय चेतना आपसी सहयोग और बराबरी के लिए संघर्ष की भावना से पैदा होती है। गैर-बराबरी के कारण प्रौढ़ गोला जवान नोहरी से मार खाता है। स्त्री और पुरुष के बीच कटुता का अतिरेक हो जाने पर तलाक अनिवार्य है। लेकिन अपनी-अपनी जिंदगी नये सिरे से आरंभ करने के स्थान पर जब मीनाक्षी और दिग्विजय सिंह एक दूसरे के खून के प्यासे हो रहे है, उनकी जिंदगी की कोई सुंदर तस्वीर नहीं बनती।

परिवार के अजनतांत्रिक ढांचे का एक दुसरा पहलू पिता और पुत्र के बीच का संघर्ष है। समाज में पीढ़ियों का संघर्ष उतना महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। जितना विचारों का संघर्ष। जो सामाजिक संघर्ष को तीव्र करता है। ग्रामीण समाज के होरी और गोबर में नित्य चखचख होती है। होरी अपनी गरीबी का जो नैतिक तर्क उपस्थित करता है। वह तर्क गोबर को खोखला लगता है। एक दिन दोनो में तन जाती है। गोबर निश्चय करता है कि वह अपने बाप की खोदी हुई खंदक में गिरने के लिए तैयार नहीं, दादा भी चाहते है कि मैं सारा करजा चुकाऊं लगान दूं, लड़कियों का विवाह करु। जैसे मेरी जिंदगी तुम्हारा देना भरने के लिए है। मेरे भी तो बाल बच्चे हैं। यह सुनकर धुनिया सन्नाटेमें आ जाती है। होरी के पास रुपये आते थे, लेकिन वह पुरे परिवार के बारे में सोच करता था। गोबर के पास पिता से अधिक रुपये आने लगे। लेकिन शहर से कमाये हुए उसके हर रुपये के पीछे एक नयी अर्थव्यवस्था की चेतना थी। गोबर में व्यक्तिगत उपभोग, प्रवृत्ति बढ़ चुकी थी, इसलिए उसके मन में होरी की भाँती व्यापक परिवारिक दायित्व

की भावना नहीं है। होरी के आर्थिक रूप से जर्जर परिवार में दरार पड़ जाती है। एक और उदाहरण है, नयी स्त्री लाने के कारण भोला अपने पुत्र द्वारा घर से निकाल दिया जाता है। यह पारिवारिक विघटन पिता की अतिरिक्त लालसाओ का परिणाम था। भोला अपने पुत्र की लातें खाता है। भोला से मिलने पर होरी अपनी पिढ़ी का दुखड़ा रोता है, लड़को की आज कल कुछ मत पूछो भोला। भाई मर मरकर पालो जवान हो तो दुश्मन हो जाए। मेरे ही गोबर को देखो। मां से लड़कर गया और सालो हो गये न चिढ़ी न पतर। पिता की व्यथा मे सच्चाई है। वैसे प्रेमचंद ने यह भी दिखाया कि जब गोबर दुबारा गाँव लौटता है, वह अपने पिता के सामने लज्जित होता है। वह अपनी मां से स्नेह करता है और कमाने के लिए जब वापस शहर जाता है, अपनी पत्नी को गांव पर ही छोड़ देता है। सामान्य मत भेदो के बावजूद, वर्ग चेतना के कारण गरीब परिवार में पड़ी दरार मिट जाती है।

राय साहब अमर पाल सिंह अपने परिवार के सामंती ढांचे मे बेटे रुद्र पाल को कैद करके नहीं रख सकें। रुद्र पाल अपनी मर्जी से मालती के बहन सरोज से विवाह करता है, संपत्ति पर अधिकार कर लेता है। और इंग्लैंड चला जाता है। अब राय साहब और रुद्र पाल में पिता-पुत्र का नाता नहीं था। वे प्रति दृष्टी थे। पिता और पुत्र के बीच संघर्ष, तत्पश्चात पारिवारिक विघटन के पदे सामाजिक व्यवस्था का बदलता हुआ ढांचा है। प्रेम चंद परिवार के विघटन से दुखी थे। पर वह परिवार का वर्तमान ढांचा पंसद नहीं करते थे। वह इसके एक ऐसे रूप के पक्षधर थे, जो मानवीय और जनतांत्रिक हो। इसमें सांमती और पूंजी वादी कुरुपताए न हों। वह परिवार मे एक ऐसे सौहार्द और समझदारी का विकास चाहते थे, जिसमे परिवर्तन के १लिए संघर्ष में परिवार की कोई भी पीढ़ी पिछड़ न जाये और सभी सदस्य मेहनत करके मधुरता पूर्वक जिवन व्यतीत करे। प्रेमचंद ने पूरे गांव को एक परिवार के रूप में देखा। कृषकों मे भाई चारा और सहयोग की भावना का विकास हो, तो इनकी न केवल वर्ग एकता मजबूत होती है, बल्कि ये बेहतर जिंदगी की ओर बढ़ते है। इसी से सामूहिक खेती और कम्यून जैसी संस्था का भाव विकसित हों सकता है। पंचायत का लोक हितैषी रूप उमर सकता है। भारतीय समाज में ये विचार मूल्यों के स्तर पर कायम है, लेकिन सामंती और महाजनी शक्तियां इन्हें नष्ट कर देना चाहती है, ताकि पारिवारिक फूट जातिभेद एवं सांप्रदायिक कलह बढ़ें। जनविरोधी शक्तियां कृषक जीवन की आर्थिक रीढ़ किस प्रकार तोड़ना चाहती है, यह प्रेमचंद स्थान-स्थान पर दिखाया है। बंधुत्व और प्रेम के स्वच्छ रूप को राय साहब, दातादीन, झिगुरी सिंह और पतेश्वरि जैसे लोग गढ़ा करते है। वे मिठा बोलकर शिकार खेलते है। रायसाहब होरी से छदम बंधुत्व का प्रदर्शन करते है। दाता दीन होरी के मुख्य सलाह कार है। वे होरी के प्रौढ़ राम सेक्क के हाँथों जवान रूपा को बेच देने का मसविश देते है। दहेज के बीना सही वर मिलना मुस्किल था, अतः अनमेल विवाह होता नहीं। पटेभ्वरी होरी का बैल खोलकर ले जाते मोला को रोकना चाहता है, लेकिन स्पष्ट हो जाता है, कि उसके बंधुत्व के पीछे कौन से स्वार्थ छुपे हुए है। शोषक वर्ग के खोखले बंधुत्व के समानातर शोषित वर्ग का सहज बंधुत्व भी उल्लेखनीय है। शोला होरी को अपनी गाय देता है। नोहरी संकट के समय होरी को रूपये उधार देती है। होरी पूनियाँ को मदद करता है। इनकी अपनी-अपनी मानवीय दुर्बलताएँ भी है, लेकिन इस तरह के सहयोग वास्तविक समाजिक सौहार्द के ही प्रति फलन है। शहर मे चुहियों विपत्ती में पड़ी झुनियाँ और गोबर की मदद हर प्रकार से करती है। इसी तरह एक अनोखे मानवीय विश्वास की रक्षा होती है। इसके ठीक विपरीत महाजन विपत्ति मे मदद के नाम पर किसानों की पीठ पर कर्ज का पहाड़ लाद देता है। भारतीय समाज के मूलभूत भावनाओं में विकृतिरिथ पैदा करने की तमाम महाजनी चेष्टाओं के वावजूद बंधुत्व और सहयोग का भाव अभी मरा नहीं है, गोदान से यह पता चलता है।

भारतीय समाज में धार्मिक तथा जातिगत भेदभाव से ऊपर उठे हुए बंधुत्व और परस्पर सहयोग की भावनात्मक जड़ें बहुत गहरी हैं, आवश्यकता केवल है, राजनैतिक समझ के विकास की, प्रेमचंद ने, “गोदान” में दिखाया है, दे हातों में साल छः महीने किसी न किसी उत्सव में ढोला मजीरा बजता रहता है। होली में एक महीना पहले से एक महीना बाद तक फाग उड़ती है। अषाढ़ शुरू हो जाता है और सावन मादो कजलीयो के बाद रामायण गान होने लगता है। सेमरी भी अपवाद नहीं है। महाजन की धमकियो और कारीदे की बोलियों इस समारोह में बांधा नहीं डालती। समाजिक एकता के इन परंपरगत रूपों पर कोई छाव नहीं चलता। धर्म को अफीम कहा जाता है। लेकिन इसके कुछ रूप ऐसे भी हैं। जो सामंती शोषण के जिरह बख्तर नहीं हैं। ये जातीय एकता के सांस्कृतिक आधार हैं। प्रेमचंद अगर शहर की सतही आधुनिकता अपनाते उन्हें उपरोक्ता लोकरूप फूहड़ लगते। उन्हें उत्सवों, आल्हा कजलियों और गानों में कृषकों के जीवन का अपूर्व उल्लास मिलता है। जीने की तड़प मिलती है। इससे पता चलता है कि कृषक-वर्ग अपनी खुशियां पहचानता है। आधुनिकता की किसी भी आंधी में भारतीय समाज से उत्सव और गान के इन लोक रूपों की जड़ें उखड़ नहीं सकती।

समाज की मौलिक विशेषताएँ हैं। गोबर ने उत्सव के अवसर पर गांव के सारे युवकों को अपने दरवाजे पर खीच लिया और कारिदा नोबेराम की चौपाल खाली पड़ गयी। होली का आनंद छाया हुआ है। इस अवसर पर कुछ युवक लोग शैली में प्रहसन खेलते हैं, जिसमें महाजनी शोषण पर करारा व्यंग्य है। एक दृश्य में किसान झिगुरी सिंह का पैर पकड़कर रोने लगता है। बड़ी मित्रता के बाद जब उसें कर्ज में दस रुपये स्थान पर पांच रुपये ही मिलते हैं, तों वह चकरा कर पूछता है, यह तो पांच ही है। मालिक पांच नहीं दस है। घर जाकर गिनना झिगुरी सिंह बतलाता है कि इनमें एक एक रुपया नजराना तहरीद कादढ कस्तुरी और सूद का है। और ये नगद पांच। हा, सरकार अब यह पांचों भी मेरी ओर से रख लीजिए। कैसा पागलसा। नहीं सरकार एक रुपया छोटी ठकुराइन का नजराना है। एक रुपया बड़ी ठकुराइन का। एक रुपया छोटी ठकुराइन के पान खाने का, एक बड़ी ठकुरान के पान खाने का। बाकी बचा एक वह आपके क्रिया करम के लिए। जो नेता अपनी गलतियों के कारण मिली असफलता का दोष जनता पर मढ़ते हैं अवारा इसे गवार और मूर्ख मानते हैं, उनके ऊपर की पक्तियों में अभिव्यक्त जनता की समझदारी से सबक लेनी चाहिए। वह प्रहसन उसी गिरधारी का किया हुआ है जिसकी ईख की खड़ी फसल महाजनों द्वारा लूट ली गयी थी। ऐसे आयोजन में जनता की आत्मा व्यक्त होती है, “रात भर भडैती होती रही और सताए हुवें दिल, कल्पना में प्रतिशोध पाकर प्रसन्न होते रहें।” हंसी हंसी में एक ओर कृषकों का राजनैतिक प्रशिक्षण हो रहा था, दूसरी ओर, सांस्कृतिक मार से महाजनों का मुखौटा उतर गया था और वे नाराज हो गये थे। अपने देश की आत्मा में झांककर प्रेम चंद ने भारतीय जनता की संघर्षशील शक्ति की थाह भी थी और देखा था कि इसमें समझ की कभी नहीं है संगठन और सही नेतृत्व की।

शहर में भी जातीय वर्ग एकता पैदा करने वाली सामाजिक संस्था हैं – “मिर्जा ने एक छप्पर डलवाकर अखाड़ा बनवा दिया है, वहां नित्य सौ-पचास लड़कियाँ आ जुटते हैं। मिर्जा जी भी उनके साथ जोर करते हैं। मुहल्ले की पंचायत भी यही होती है।” सामाजिक जीवन का यही केंद्र है और राज नैतिक आंदोलन का भी। आर्ये दिन सभाए होती रहती हैं। समाज में ऐसी छोटी-छोटी अल्प कालीन या दीर्घ कालिक संस्थाओं की बड़ी उपयोगिता है। यहाँ लोग इक्कट्टे होते हैं। खुलकर बिचार प्रकट करते हैं। धीरे-धीरे अन्याय से जूझने का भाव पैदा होने लगता है। यह सही है की शोषण के महाजनी तंत्र ने जन जीवन खोखला कर दिया है। इसमें कुरूपताएँ

भर दी है। कृषकों का आपसी सामाजिक रिश्ता ढीला पड़ने लगा है। जो रीति-आचार पहले कृषक-जीवन की सामाजिक खुशियों के प्रतीकात्मक रूप थे वे अब बंधन प्रतीत होने लगे हैं। सोना और हीरा उगलनेवाली धरती जब दुखों का पहाड़ उगल रही हों, इस दुर्दशा का सामाजिक बंधुत्व, पारिवारिक प्रेम और सहयोग भावना पर प्रभाव कैसे नहीं पड़ेगा। नये आर्थिक संकट सामाजिक जीवन को बोझ बना देते हैं। किन्तु मनुष्य और मनुष्य के बीच भावनात्मक संबंध विलुप्त हो जायेंगे तो शोषण से मुक्ति कैसे मिलेगी ?

सामाजिक विषमता के कई चेहरों में एक है जातिवाद। “गोदान” में जाती भेद के नग्न रूप माता दीन और सिलियाँ के संबंध में है। दलित औरतों को द्विज बहुत सताते हैं। वे रखैल बना ली जाती है। तथा दलितों पर द्विज प्रमुख-प्रधान समाज में अन्य भी कई तरह के अत्याचार होते हैं। माता दीन ने जनऊ हाथ में लेकर सिलिया चमारिन से कहा था, जब तक दम-मे दम हैं, तुझे ब्याहता की तरह रखूंगा। “पर समय बीतते ही दोनों के संबंध मालिक और मजूर के हो गये। सिलिया ने अनाज ओसाते हुए आहत गर्व से पूछा, “तुम्हारी चिज में मेरा कुछ अख्तियार नहीं है।” माता दीन ने गुस्से में कहा, नहीं तुझे कोई अख्तियार नहीं है। काम करती है, खाती है। जो तुम चाहे कि खा भी लुटा, भी तों यह यहां न होगा। अगर तुझे यहां न परता पड़ता हो, कही और जाकर काम कर। मजूरों की कभी नहीं है।” भारतीय समाज में औरत पर जुल्म नयी बात नहीं है। लेकिन दलित औरत पर अधिक जुल्म होता है। माना ही नहीं जाता की उनका भी एक मानवीय सम्मान है। प्रेमचंद ने सिलिया के संघर्ष को मानवीय समान के लिए दलित औरत समुदाय के संघर्ष” के रूप में उपस्थित किया। चमार एवं अन्य पिछड़ी जातियों के काफी लोग भूमि हीन हैं। वे उच्च जातिके भूमिधरो के यहा मर-खप कर काम करते हैं। वैसे पिछड़ों में भी कुछ भूमिधर तथा द्विजों में भी कई भूमिहीन हैं। गाँव में भूमि को लेकर संघर्ष होते रहते हैं। विषम सामाजिक संरचना के कारण भूमिहीन खेत मजदूरों का संघर्ष कभी कभी जाति संघर्ष का रूप धारण कर लेता है। इसके परिणाम बुरे होते हैं। संघर्ष भटक जाता है, कोई चारा नहीं बचता। संघर्ष में हिंसा निरंतर बढ़ी है और जाति की सामाजिक ताकत मजबूत हुई हैं। हमारा समाज प्रेमचंद के जमाने में विखंडित नहीं हुआ था, लेकिन जाति संघर्ष के रूप दिखायी पड़ने लगते थे। होता वर्ग-संघर्ष था, लेकिन इस में जाति की स्थिति प्रधान हो जाती थी। सिलिया का बाप हरखू पंडित दातादीन को चुनौती देता है, “तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते, मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते हैं। हमे ब्राह्मण बना दो, हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है। जब यह समरथ नहीं है तो फिर तुम भी चमार बनो। हमारे साथ खाओ-पिओ, हमारे साथ उठो-बैठो। हमारी इज्जत लेते हो तो अपना धर्म हमें दो।” हरखू अपनी जाति के लिए मानवाधिकार चाहता है। उसमें अपमान की जिंदगी से निकलने तथा बराबरी की जिंदगी की बहुत तेज भूख है। धर्म ने उस नीची जाति का बनाकर रखा है। आर्थिक स्तर पर वह दबा हुआ है ही, सामाजिक स्तर पर भी दबा हुआ है। उसकी लड़ाई दोहरे शोषण के खिलाफ है। उसकी मांग है कि अगर माता दीन ने उसकी बेटी सिलिया को रखा है, तो उसे ब्याहता का दर्जा दे। उसके स्वर में हिंसात्मक आक्रोश है। सिलिया की मां माता दीन पर व्यंग्य करती है, “तुम बड़े नेमी-धरमी हो। उसके साथ सोओगे, लेकिन उसके हाथ का पानी न पिओगे।” चमार माता दीन का जनेऊ तोड़ डालते हैं। मुंह में हड्डी का टुकड़ा डालकर उसका धर्म गिरा देते हैं। धर्म ही मातादीन और सिलिया के बीच की दीवार थी। ध्यान देने की बात है कि “खलिहान के सारे आदमी जमा हो गये, पर आश्चर्य यह कि कोई इन धर्म के लुटेरों से मुजा हिम न हुआ।” यह संघर्ष जातिवादी संघर्ष का रूप न ले सका, बल्कि गांव के मरजाद और मानवाधिकार का संघर्ष बना। प्रेमचंद जाति-संघ के स्वान पर वर्ग-संघर्ष बना। प्रेमचंद जाति-संघर्ष की प्रक्रिया में वे जाति की सामाजिक स्थिति

के प्रति असावधान न थे। 'हंस' के फरवरी १९३४ के अंक में उन्होंने लिखा था, "दस-बीस साल में वह सभी जातियां जिन्हें शूद्र कहा जाता है, ब्राह्मण नहीं तो क्षत्रिय अवश्य बन चुकी होंगी। और क्षत्रिय से ब्राह्मण बनना तो उसके केवल एकदम उछलने का काम है।" इस कथन से उनका अभिप्राय यही था कि दलितों की सामाजिक ताकत एक न एक दिन वापस आयेगी और उनकी आर्थिक स्थिति मजबूत होगी।

दक्षिण में जाति-संघर्ष बहुत पहले से तीव्र से था। १९३० में रंगनाथ पुरम का दंगा एक ज्वलंत उदाहरण है, जिसमें हरिजन जिंदा जलाये गये थे। लेकिन दूसरी ओर राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के कारण विभिन्न जातियों के बीच परस्पर सहयोगिता का भाव भी पैदा हो रहा था। राष्ट्रीय आंदोलन के एक अंग के रूप में अछूतों के मंदिर प्रवेश का आंदोलन चला। इसी क्रम में रखैल हरिजन औरतों को व्याहता का दर्जा देने की मांग भी प्रबल हुई थी। साथ में दमन भी तीव्र हुआ। पहले भी पिपरा और अलवर कोड होते थे। अनेक समय दलितों के ऊपर हथियार बंद आक्रमण हुए। आक्रमण के लक्ष्य सिर्फ चमार ही नहीं, संधाल, आदिवासी एवं अन्य पिछली दलित जातियों के लोग भी थे। राष्ट्रीय आंदोलनात्मक रूप खड़ा न हो सका है, जो दलितों को अपमान पूर्ण जिंदगी से निकाल सके। अधिकांश राजनैतिक दल वोट के लिए इन्हें बार-बार छलते रहे हैं और जब भी दलितों ने सामाजिक – आर्थिक मुक्ति के लिए संघर्ष किया, उनके संघर्ष को जाति-संघर्ष का रूप देकर तोड़ा गया है। प्रेमचंद समझते थे कि दलितों की सामाजिक मुक्ति के लिए सामंती व्यवस्था से कई स्तरों पर लड़ना होगा और जातिवाद का कोढ़ समाप्त करना होगा। इस तरह प्रेमचंद जातिविहीन समाज की संकल्पना तक पाठक को ले जाते हैं।

गोदान में राजनीतिक दृष्टि :

“गोदान” तक प्रेमचंद के राजनैतिक दृष्टिकोण में काफी विकास हो चुका था। वह शुरू से मानते थे कि समाज की प्रगति के लिए राजनैतिक गुलामी दूर करना जरूरी है। स्वाधीनता आंदोलन में जमींदार, पूंजीपति शिक्षक, डॉक्टर, व्यापारी, मजदूर, किसान महिला और युवक-सभी अपने-अपने हितों को लेकर चिंतित भी थे। प्रेमचंद अपने वैचारिक विकास की प्रक्रिया में समझ गए कि राजनैतिक गुलामी के अलावा आर्थिक गुलामी से आजाद होना जरूरी है और इसमें बाधक हैं जमींदार और पूंजीपति।

राष्ट्रीय आंदोलन पूंजीवाद के राजनैतिक विकास का मंच बनने लगा, तो इसे लेकर प्रेमचंद बहुत चिंतित हुए। राष्ट्रीय आंदोलन की विभिन्न धाराओं में, तिलक, भगतसिंह, सुभाषचंद्र बोस, देशबंधु चित्तरंजनदास, नरेंद्र देव ऐसे लोग थे, जो किसानों और मजदूरों के लिए स्वतंत्रता चाहते थे। चित्तरंजन दास, नरेंद्र देव ऐसे थे जो किसानों और मजदूरों के लिए स्वतंत्रता चाहते थे। चित्तरंजन दास ने एक बार कहा था, “हम लोग देश के ९८ प्रतिशत लोगों के लिए स्वराज्य चाहते हैं।” जवाहरलाल नेहरू ने ‘सोवियत रूस’ (१९८२) तथा ‘विश्व इतिहासकी झलक’ (१९३४) में समाजवादी क्रांति के लोकनेता लेनिन को साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध लड़नेवाला दृढ़ संग्रामी बतलाया था तथा उनके इस निर्देश को महत्त्व दिया था कि “जो मेहनत नहीं करेगा उसे भोजन नहीं मिलेगा।” यह सामंतों, पूंजीपतियों पर जबर्दस्त वैचारिक आघात था। वैसे आगे चलकर स्पष्ट हो गया कि नेहरू द्वारा लेनिन की प्रशंसा आध्यात्मिक कोटि की थी।

‘अंग्रेजी साम्राज्य के अंतर्गत रहते हुए स्वशासन’ के स्थान पर शांतिपूर्ण तरीकों से स्वराज्य की स्थापना के लक्ष्य को लेकर १९२०-२१ में व्यापक असहयोग आंदोलन शुरू हुआ। गो कि इसमें ‘स्वराज्य’ का अर्थ स्पष्ट नहीं था, फिर भी आंदोलन व्यापक रूप से फैला। १२ फरवरी, १९२१ को बारदोली की काँग्रेस भी कार्यकारिणी समिति की सभा में चौराचोरी के हिंसक कांड के कारण आंदोलन वापस ले लिया गया यह प्रस्ताव भी पारित किया गया कि कार्यकारिणी समिति कांग्रेस के कार्यकर्ताओं और संगठनों को यह सलाह देती है कि वे किसानों को सूचित कर दें “जमींदारों को मालगुजारी नहीं देना कांग्रेस के प्रस्तावों के प्रतिकूल है।” कांग्रेस के आंदोलन का लक्ष्य उनके कानूनी हकों पर हमला करना नहीं है।” प्रेमचंद कृषक-समस्याओं के प्रति अत्याधिक जागरूक तथा जमींदार वर्ग के विरोधी थे। वह स्वाधीनता की उस राजनैतिक अवधारणा से बहुत आगे थे, जो उस समय प्रचलित थी।

जनता के बढ़ते असंतोष को देखकर एक नकली जनतांत्रिक माहौल का आभास देने के लिए अंग्रेज सरकार ने काउंसिल (विधायक सभा) की स्थापना की थी। मांटैग्यू चेम्सफोर्ड सुधार योजना के तहत अंग्रेज सरकारने वित्त पुलिस और भूमि राजस्व जैसे विभागों को अपने हाथों में रखकर सिर्फ स्थानीय शासन स्वास्थ्य और शिक्षा जैसे विषय विधायिका सभा को सौंपे थे। महात्मा गांधी ने इस सुधार योजना का समर्थन किया पर प्रेमचंद ने विरोध किया। वह असहयोग आंदोलन वापस लेने के पक्ष में भी न थे। असहयोग आंदोलन गांधी की व्यक्तिगत भूल के कारण असफल हुआ; लेकिन इससे सभी स्वरों पर निराशा फैली। नेताओं का काउंसिल में जाने के लिए जी मचलने लगा। इसमें प्रवेश के कार्यक्रम को लेकर १९२३ में स्वराज्य पार्टी का गठन हुआ। ब्रिटिश शासन के अंतर्गत स्वशासन इसका लक्ष्य था। १९२५ में कांग्रेस ने अपना सारा राजनैतिक कार्य इसी को सौंप दिया। लेकिन १९२९-३४ के सत्याग्रह तथा सविनय अवज्ञा आंदोलन ने व्यापक राष्ट्रीय चेतना फैलायी। इसमें अधिकाधिक संख्या में किसानों ने भी भाग लिया। इस आंदोलन को बुरी तरह दबा दिया गया। आर्थिक मंदी का देशभर में प्रभाव था। “गोदान” के मिर्जा खुर्शीद, प्रेमचंद की राजनैतिक समझ को इस तरह प्रस्तुत करते हैं, “मेरा बस चले तो कौंसिलों में आग लगा दूं। जिसे हम डेमोक्रेसी कहते हैं, वह व्यवहार में बड़े-बड़े व्यापारियों और जमींदारों का राज्य है और कुछ नहीं। चुनाव में वही बाजी ले जाता है, जिसके पास रुपये हैं। रुपये के जोर से उसके लिए सभी सुविधाएँ तैयार हो जाती हैं, बड़े पंडित, खड़े खड़े लिखनेवाले, बोलने वाले जो अपनी जुबान से, अपनी कलम से पब्लिक को जिस तरफ चाहें फेर दें। सभी सोने के देवता के पैरों पर माथा रगड़ते हैं। मैंने तो इरादा कर लिया है। अब इलेक्शन के पास नहीं जाऊँगा। मेरो प्रोपेगंडा अब डेमोक्रेसी के खिलाफ होगा।” इतने से “गोदान” की राजनैतिक पृष्ठभूमि स्पष्ट हो जाती है।

चुनाव-प्रणाली पर साम्राज्यवादी पूँजीवादी शक्तियों के प्रभाव की वजह से प्रतिनिधि बनने के इच्छुक-उम्मीदवारों तथा मतदाताओं के बीच रुपये पैसे का खेल होता है और दलालों की कुछ ऐसी चलती है कि सुदृढ़ जनतंत्र कायम नहीं पाता। गोदान में लेखा एक ऐसा पात्र है जो मिर्जा खुर्शीद, राय-साहब, राजा साहब, मालती-सबको इस चुनाव-चक्कर में फंसा कर अपना उल्लू सीधा करना चाहता है, पर अंत में उसकी अत्यंत बुरी दशा होती है। मालती उस पर त्याग्य करते हुए कहती है, “क्षमा कीजिए, मैं हार की जिल्लत नहीं उठाना चाहती। जब रानी साहिबा रुपये की थैलियां खोल देंगी और एक-एक पर एक-एक अशर्फी चढ़ने लगेगी, तो आप भी शायद उधर ही वोट देंगे। सुविधावादी वर्ग मतदाता के आर्थिक अभाव का फायदा उठाकर उसका मत खरीद लेता है, जो जनतंत्र की खिल्ली है।”

राजनैतिक स्वाधीनता और आर्थिक मुक्ति के लिए संघर्ष के प्रधान केन्द्र शहर थे। गोबर वहां रहता था। उस राष्ट्रवाद और वर्ग-संघर्ष दोनों का ज्ञान हो रहा था, “सभाओं में आने-जाने से उस कुछ-कुछ राजनैतिक ज्ञान भी हो चला है। राष्ट्र और वर्ग का अर्थ समझने लगा है। सामाजिक रूढ़ियों की प्रतिष्ठा और लोक निंदा का भय अब उसमें कम रह गया है।” गांव की महाजनी सभ्यता का विरोध करनेवाला गोबर शहर में मिर्जा खुशीद की मदद से एक छोटा-मोटा धंधा कर लेता है। थोड़े वक्त के लिए वह खुद भी एक छोटा मोटा महाजन बन जाता है, “वह पड़ोस के इक्केवालों गाड़ीवालों और धोबियों को सूद पर रुपये उधार देता है।” “गोबर में वास्तविक वर्ग चेतना तब पैदा होती है, जब वह शक्कर मिल का मजदूर बनता है। जिन दिनों वह गांव जाकर महाजनों को दहाड़ता है, उन दिनों वह स्वयं एक छोटा-मोटा, सूदखोर था। दूसरी बार वह गांव जाता है तो करुणा और गुस्से के बीच होरी से कहता है, “तुम्हारी जगह में होता तो या जेल में होता या फांसी पर गया होता। मुझसे यह कभी बर्दाश्त न होता कि मैं कमा-कमाकर सबका घर भरूं, आप अपने बाल-बच्चों के साथ मुंह में ताली लगाए बैठा रहूं।” गोदान में गोबर की यह आखिरी उक्ति है। इसमें राजनैतिक परिवर्तन की चेतना के बहुत गहरे और सार्थक संकेत हैं।

गोबर के माध्यम से राजनैतिक आर्थिक चेतना शहर से गांव की ओर बढ़ती है। शहर में गोबर को राजनैतिक गतिविधियों को निकटता से समझने का अवसर मिला और उसमें सर्वहारा। चेतना पनपी। प्रेमचंद गांव के करीब किसानों के “जैजात” के ठोह को समझते थे। ५ बीघे के जैजात को बचाने के लिए होरी ने रूपा का हाथ प्रौढ़ रामसेवक को सौंप दिया था। गोबर के पास न कोई “जैजात थी। होरी की भांति वह रूढ़िवादी था। इसलिए उसमें अभूतपूर्व चेतना और साहसिकता थी। मजदूर होने के कारण ही ऐसा था। उसने गांव लौटकर लोगों को अपनी चेतना और साहसिकता से परिचित कराया।”

गोबर सामाजिक रूढ़ियों तथा सांप्रदायिकता के द्वेष भाव से भी मुक्त था, “गोबर अलादीन की नया को उठा बैठी करता, अल्लदीन पीपल के पेड़ के नीचे स्थापित सैकड़ो छोटे-बड़े शिवलिंगों को बटखरे बताता, लेकिन सांप्रदायिक द्वेष का नाम भी न था।” प्रेमचंद ने सांप्रदायिकता मुक्त प्रेम को एक व्यापक मानवीय मूल्य के रूप में स्थापित किया। “गोदान” की रचना के वक्त चारों तरफ सांप्रदायिक दंगे हो रहे, थे। प्रेमचंद ने महसूस किया कि ये दंगे धार्मिक रूढ़िवादितासे जन्मते हैं और राजनीतिक उकसाव से फैलते हैं।

कृषक-वर्ग प्रशासनिक स्तर पर भी बुरी तरह दबाया जा रहा था। थाना कचहरी उपनिवेश-वादी शोषण के अस्त्र थे। रामसेवक नौकरशाही के प्रलय का व्यंगचालक वर्णन करता है। “थानेदार और कनिसिटिबल तो उसके दामाद है। जब उनका दौरा गांव में हो जाय, किसानों का धरम है, वह उनका आदर-सत्कार करें, नगर-नयाज दे, तोही एक रिपोर्ट में गांव बंध जाय। कभी कानूनगी आते हैं कभी तहसीलदार, कभी डिप्टी, कभी जण्ट, कभी कलक्टर कभी कमिसनर। किसान को उनके सामने हाथ बांध हाजिर रहना चाहिए। ... उनके लिए रसद चारे, अंडे-मुर्गी, दूध-घी का इंतजाम करना चाहिए। . . . एक – न – एक हाकिम नये नये बढ़ते जाते है।” अंग्रेजी राज में नौकरशाही निरंतर क्रूर होती जा रही है, यह किसानों के सीधेपन का फायदा उठाती थी। अफसरों का स्वागत करने के लिए जमींदार किसानों से हल पीछे दो रुपया वसूलते थे। इसलिए किसानों के मन में अंग्रेजी साम्राज्यवाद तथा जमींदार वर्ग के प्रति समान रूप से विक्षोभ पनप रहा था।

“गोदान” में अपने समय के राजनैतिक अंतविरोधो का समग्र चित्र है। भारतीय जनता के विभिन्न वर्गों की राजनैतिक चेतना का अप और स्तर क्या था। इसमें कैसा परिवर्तन आ रहा था, “गोदान” पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है। प्रेमचंद के युग में अंग्रेजों के वादाखिलाफ और दमन के कारण उनसे जनता का मोहभंग हो चुका था। पूजीपति वर्ग और आर्थिक और राजनैतिक स्तर पर अपना निरंतर विकास कर रहा था। किसान-मजदूर वर्ग की आर्थिक भुक्ति की आवाज जोर पकड़ने लगी थी। मजदूर वर्ग ने अपना संघर्ष छेड़ दिया था लेकिन उसे भीषण दमन का सामना करना पड़ रहा था। समाज के लोगों पर यूरोपीय जनतांत्रिक क्रांति के अलावा रुसी साम्राज्यवादी क्रांति का असर पड़ रहा था। कुछ विद्वेषो के बावजूद मुसलमान और हिंदू मिलकर उपनिवेशवादी सामंती शोषण का विरोध कर रहे थे और भारतीय जनता का मुक्ति-संग्राम एक नये दौर से गुजर रहा था। “गोदान” में तत्कालीन भारतीय समाज की उपर्युक्त सभी तस्वीरे किसी न किसी रूप में हैं।

गोदान ‘कथा-शिल्प : संरचना के सन्दर्भ में’

साहित्यिक प्रक्रिया एक जटिल व्यापार है। इस जटिल प्रश्न को स्पष्ट करने के लिए विश्लेषण व्यक्ति के रूप में करना होगा। साहित्यकार का व्यक्तित्व, अपने स्त्रष्टा एवं द्रष्टा, दोनों पक्षों के समुचित योग का परिणाम होता है। स्त्रष्टा के रूप में साहित्यकार अपने चारों ओर फैले वातावरण में व्याप्त सुख-दुख, आशा-निराशा, भाव-अभाव, जीवन-मरण आदि का सफल चित्रण करने में समर्थ होता है। इसी शक्ति के आधार पर उसकी समर्थ लेखनी देश और काल के चेहरे पर खड़ी हल्की से हल्की शिकन को भी साहित्य में अभिव्यक्ति करनेमें समर्थ होती है। साथ ही समाज किस गति से किस दिशा में आगे बढ़ रहा है, उसकी प्रगति में कौन से तत्व सहायक हैं और कौन से विरोधी विकास का क्रम उसे किस ओर खींचे लिए जा रहा है- आदि समस्याओं का ज्ञान कलाकार का द्रष्टा-पक्ष ही करता है। स्पष्ट है आदर्श रूप में कलाकार का द्रष्टा-पक्ष इतिहास की गतिशील वृत्तियों का उचित आकलन करता है और उसी आकलन के संदर्भ में उसका स्त्रष्टा पक्ष वस्तुगत यथार्थ को और भी सतीक बनाकर कलात्मक आवरण प्रदान करता है। जब तक स्त्रष्टा एवं द्रष्टा पक्षकी प्रकृति में सामंजस्य रहता है, कलाकृति निर्दोष और अखंड रहती है। तदनन्तर असंगतियाँ स्वयंमेव रचनाओं से अनुस्यूत होने लगती हैं।

असंगतियों के अनुस्यूत होने का भी कारण है। स्त्रष्टा के रूप में कलाकार अपनी रचनाओं में जिस सामाजिक यथार्थ की अभिव्यंजना करता है, वह भविष्य की ओर एक निश्चित संकेत देता है। अगर कलाकार का द्रष्टा – पक्ष सबल और दोषरहित रहा तब वह इतिहास की गतिशील शक्तियों का उचित मूल्यांकन करने में समर्थ होगा और उसके इस द्रष्टा-पक्षद्वारा वर्णित भविष्यत् का संकेत स्त्रष्टा-पक्ष द्वारा अभिव्यक्ति यथार्थ द्वारा निर्देशित संकेत के साथ अभिन्नता स्थापित करता रहेगा। पर स्त्रष्टा एवं द्रष्टा दोनों पक्षों में किसी के निर्बल हो जाने से रचना में विरोधाभासका आ जाना स्वाभाविक है। जब कथाकार का द्रष्टा-पक्ष समाज की ऐतिहासिक शक्तियों का उचित आकलन न कर, अपने चित्त की मनमानी लहर के अनुसार भविष्य की कल्पना करने लगता है। उस समय द्रष्टा-पक्ष द्वारा अभिषिप्त काल्पनिक आदर्श कुछ संकेत देता पाया जाता है, और स्त्रष्टा के रूप में चित्रित सामाजिक यथार्थ एवं उससे ध्वनित इतिहास की गतिवर्धक शक्तियों भविष्यत् के लिए कुछ और ही संकेत देती जाती है। इस प्रकार रचनाओं में अन्तर्विरोधी स्वर स्वयंमेव मुखरित हो जाता है।

प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासों में इस अन्तर्विरोधी स्वर को तीव्रता के साथ अनुभव किया जा सकता है। उनका औपन्यासिक दृष्टिकोण 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' सृजनात्क प्रक्रिया से उत्पन्न होनेवाले विरोधाभास को ही सिध्दान्त के आवरण में प्रस्तुत करने का प्रयास है। उनके स्रष्टा-पक्ष ने अपने समाज के अनेक जीवन प्रश्नों को यथार्थ-चित्रण के साथ बहुत खूबी के साथ उभारा, पर द्रष्टा – पक्ष, आदर्शवादी होने के कारण एक ओर न तो इतिहास की गतिशील वृत्तियों से मेल खा सका और न दूसरी ओर सुधार की अपनी दृढवादितों को ही छोड़ सका। अतः उनके प्रारंभिक प्रायः सभी उपन्यास क्रान्ति की पृष्ठभूमि में सुधारवादी एवं सामंजस्यवादी समाधान के साथ लिखे गए हैं। जहाँ कहीं भी चरित्रों के विकास में स्रष्टा एवं द्रष्टा पक्ष की टकराहट को उपन्यासकार ने तीव्रता के साथ अनुभव किया, वहाँ या तो घटनाओं को एक झटकें के साथ मोड़कर पाओं के चरित्र-चित्रण को विकृत कर दिया, अथवा इस मार्ग से अवरुध्य होने पर हत्याओं एवं आत्मघातों के द्वारा अस्वाभाविक समाधान रख दिया गया।

स्रष्टा एवं द्रष्टा पक्ष के इस तनाव और अन्तर्विरोधी स्तर से 'गोदान' बहुत-कुछ मुक्त है। इस अंतिम उपन्यास में आकर जैसे उनकी कल्पना का आदर्शवादी रूप सामाजिक यथार्थ की वास्तविकता से टकराकर खंडित हो गया है। यहीं पर उनके आदर्शोन्मुख यथार्थ करने हम समाजवादी यथार्थ की तरफ मुड़ते हुए अनुभव करते हैं। 'गोदान' में उपन्यासकार का स्रष्टा पक्ष सापेक्षतया अधिक सबल है और द्रष्टा-पक्ष बहुत दूर तक दबा-दबा है। लेकिन जहाँ कहीं भी द्रष्टा-पक्ष ने उनके कलाकार पक्ष पर हावी होने का प्रयास किया, अन्तर्विरोधी स्वर उभर उठे हैं। प्रेमचन्द, नवयुग की प्रतिमा, 'मालती के सहज रूप को स्वीकार न कर सके, नारी विषयक उनका भारतीय आदर्श, उस चरित्र के स्वाभाविक विकास के बीच एक चटतान की भौति आ अड़ा। फलतः मेहता के आदर्शोन्मुख व्याख्यानों के संदर्भ में एक अस्वाभाविक मोड़ के साथ उस चरित्र की गति को तोड़ डाला गया। गोबर का व्यक्तित्व जिस क्रान्ति-परक मूल्यों के योग से गठित हुआ, उसे भी अनावश्यक रूप से सुधारवादी एवं सामंजस्यवादी मनोवृत्ति के माध्यम द्वारा कुंठित कर दिया गया। पर इसमें संदेह नहीं कि 'गोदान' में ऐसे स्थल बहुत ही कम हैं और मूलरूप में वह कलाकार के स्रष्टा पक्ष को सफलता और दृष्टिकोण की सार्थकता को ही हमारे सामने रखता है।

स्रष्टा पक्ष की सबलता ने 'गोदान' के कथा-शिल्प को पूर्ववर्ती उपन्यासों की तुलना में कहीं अधिक कलात्मक और सशक्त बना दिया है। इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने मनोरंजन तत्त्व को अपने औपन्यासिक उपादानों से अलग रख दिया है। न तो यहाँ कौतूहलवर्धक विशिष्ट कथा-सामग्री पर बल है, न घटना-प्रधान, और कालक्रम में सुनियोजित सुसम्बद्ध कथानक का ही आग्रह है। जीवन को व्यापक संदर्भ में सरल भाव से रखने के कारण वे यथार्थ को अधिक गहराई, के साथ यहाँ पकड़ने में सफल हुए हैं और यही कारण है कि इस उपन्यास को सामान्य पात्र की जीवन और सामाजिक विशेषताओं में रंग कर कहीं अधिक सजीव और विश्वसनीय बन बैठे हैं। आदर्शवादी मनोवृत्ति का 'चाहिए' पक्ष जो उनके अन्य उपन्यासों की प्रमुख विशेषता थी, यथार्थ की वास्तविकता से टकराकर चूर हो गया है। उद्देश्यवाद अब भी उनकी उपन्यास-कला का प्रेरक तत्त्व है पर उसकी धारा प्रच्छन्न है और कथानक एवं चारित्रिक विकास के बहुत नीचे, गहराई में प्रवाहित होने के कारण 'उपदेशवाद' के रूप में सामने नहीं आती वरन् चरित्र को 'टाईप' और कथानक को 'प्रतीकात्मक' बनाकर, संपूर्ण रचना को ही विशिष्ट बना देता है।

उपन्यास के नाम 'गोदान' को ही लें जमीन की तरह 'गाय' भी सामन्ती संस्कृति का एक अभिन्न अंग है। यह कृषक-संस्कृति की शोभा और गौरव है। होरी का संपूर्ण व्यक्तित्व इस सामन्ती-संस्कृति के ताने-बाने से बुना हुआ है, अतः हर एक कृषक गृहस्थ की भौति होरी के मन में भी गऊ की लालसा चिरकाल से संचित चली आनी थी। इसको पाने और मर्यादा की रक्षा के लिए वह कर्ज लेता है, छल-कपट करने में भी संकोच नहीं करता और जब घर में गाय आ जाती है तब अपनी समस्त विशेषताओं एवं गरीबी के बावजूद वह खिल उठता है। परिस्थितियाँ और इतिहास की गतिवर्द्धक शक्तियाँ सामन्तवादी आदर्श को तोड़ती रहती हैं। गाय भी मर जाती है, पर सहस्रों वर्षों की संचित परंपरा, युगों से चले आते सामन्तवादी आदर्श इतनी जल्दी खत्म नहीं हो सकते। वे गाय की लालसा की तरह होरी के उपचेतन मन में दबी रह जाती है। और इसका अन्त जब जीवन की सान्ध्यबेला में टूटा शरीर और उल्लेसित मन से गाय लेने के लिए वह कटिबद्ध होता है, उसी समय उसके जीवन की गति रुक जाती है। उसके उपचेतन मन में गाय की दबी लालसा 'स्वप्न-चित्र' की भांति उभरती है – फिर एक गाय का चित्र सामने आया, बिलकुल कामधेनु सी उसने उसका दूध दूहा और मंगल को पिला रहा था कि गाय एक देवी बन गई और ...। पर वह सामन्ती जीवन का यह मोह लिए ही मर जाता है। मृत्यु – काल में उसकी आँखों में पराजय के आँसू हैं, उसके चेहरे पर आस्था के टूटने की कहानी है और उस पराजय और टूटी कहानी को उद्घाटित करनेवाले पंडित दातादीन और अन्य शोषक वर्गों के प्रतिनिधित्व व्यक्तियों की लोलुप दृष्टि और नोच-खसोट कर खानेवाले खुले हाथ है। प्रेमचन्द ने अपनी तरफ से कुछ नहीं कहा, पर पूरा वातावरण, प्रतीकों के मुख से सामन्ती प्रथा के टूटने की कहानी कह उठता है। 'गोदान' के कथा-शिल्प की यही विशेषता है।

शिल्प और भाषा की दृष्टि से भी प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास को विशिष्ट स्तर प्रदान किया। 'गोदान' में भाषा का वैविध्य जितने स्तरों पर दिखाई पड़ता है वह हिन्दी उपन्यास के इतिहास में अब तक दुर्लभ रहा है। गोदान में प्रेमचंद विषयानुरूप शिल्प के अन्वेषण का प्रयास करते हैं और सर्वत्र गति एवं नाटकीयता का सहारा लेते हैं। यहाँ भाषा प्रयोग का वैविध्य बहुस्तरीय है। मैंने अपनी पुस्तक 'हिंदी कथा साहित्य का पुनर्पाठ' में लिखा है कि, "इतनी भाषा अपनी सरलता में भी सटीक, सुबोध एवं अत्यधिक व्यंजक बन पड़ी है। उसमें कहीं-कहीं व्यंग्यात्मक शिल्प का चमत्कारी प्रयोग देखते ही बनता है। इनकी भाषा की अन्य महत्त्व पूर्ण विशेषता क्रियापदों का सार्थक प्रयोग है।"





‘जंगल जहाँ शुरू होता है’ का वस्तुविधान

यह कथाकार संजीव का प्रसिद्ध उपन्यास है। पिछले कुछ वर्षों में हिंदी लेखकों ने बहुधा अनछुए, परित्यक्त और वर्जित क्षेत्रों की यात्राएं की हैं – जनजातियाँ, कोयला खदान, समुद्र अन्तरिक्ष, सूचना प्रौद्योगिकी समेत वे तमाम क्षेत्र जहाँ जिंदगी साँस लेती है। हिंदी के चर्चित उपन्यासकार संजीव का ‘जंगल जहाँ शुरू होता है,’ इसी ढंग का उपक्रम करता है। उसने नए साज और नए अन्दाज से नए-नए दिगंतों की अर्गलाएं खोलने का अद्भुत कार्य किया है। जंगल यहाँ अपने विविध रूपों और अर्थ छवियों के साथ के लेडेस्कोपिक अन्दाज में खुलता और खिलता है- थारू जनजाति, सामान्य जन, डाकू, पुलिस और प्रशासन, राजनीति, धर्म, समाज और व्यक्ति- - - और सब के पीछे से, सब के अन्दर से झाँकता, झहराता जंगल और जंगल को जीतने का दुर्निवार संकल्प। संजीव के उपन्यास मूलतः पिछड़े, उपेक्षित, वर्जित क्षेत्र की दर्दनाक व्यथा को वाणी देते हैं। वे प्रेमचंद और रेणु की विरासत को वर्तमान संदर्भों में निष्ठा से आगे बढ़ाते हैं। उनके उपन्यास परंपरा का पिष्ट पोषण नहीं करते, वे युगीन परिप्रेक्ष्य में उसका मूल्यांकन करते हैं। उनके अंदर का लोकधर्मी कलाकार त्रासद जीवन के पीछे स्थित कुटिल साजिशों की पोल खोलकर बुनियादी तथ्यों का उद्घाटन करता है। फिर चाहे पिछड़ा भू-भाग हो, सर्कस की दुनिया हो, कोयला क्षेत्र हो, जनजातीय जीवन हो या कलाकार की जीवनी। ‘जंगल जहाँ शुरू होता है’ का प्रकाशन वर्ष २००० ई है।

इन उपन्यास में संजीव जनजातीय जीवन के एक अलग संदर्भ का अन्वेषण करते हैं। इसके क्षेत्र में बिहार का ‘मिनी चंबल’ से पहचाना जाने वाला पश्चिम चंपारण क्षेत्र है। इसमें थारू आदिवासियों की त्रासदी और डाकू समस्या का चित्रण है। डी.एस.पी. कुमार द्वारा चलाया गया ‘ऑपरेशन ब्लैक पाइथन’ उपन्यास का प्रमुख संदर्भ है। वह डाकूओं के उन्मूलन हेतु पश्चिम चंपारण के जंगल में प्रवेश करता है। तदुपरांत वहाँ के अंदरूनी हालात उजागर होते हैं। लेखक ने डाकूओं के अत्याचार का चित्रण करते हुए लिखा है कि, “शाम होते-होते कुछ साए गाँव में घुस आते हैं, फोर्स- - - ? त्रा, यह तो बंशी का दल है। गब्बरी आँखें खैनी की पीक और वही डरावनी भदेस आवाज, तेरी माई के - - - - तो हरी बहिनी के - - - - तो हरी बेटी के - - - - निकल आव रामललवा, बोलाव मुरली पांडे के आ के बचा लें अब।” पीट-पीटकर, खीच-खींचकर लाए जा रहे हैं लोग- स्त्री-पुरुष, जवान-बूढ़े-बच्चे। हड़कप मच गया है। बाँस के टटरे आर काठ के किंवाड़ बंद हो रहे हैं। उन्हें तोड़कर घसीटते हुए लाया जा रहा है औरतों को। “छोड़ द - अ मलिकार! छोड़ द - अ बाबू-साहेब! बूढ़ है, मर जाएगा। अरे-अरे ओकरा पेट में बच्चा है। अरे- - - - सारी फरियादेँ बेकार जा रही हैं। इन हूणों से कोई नहीं बच सकता, कुत्तों को छोड़कर कोई नहीं है आसपास के गाँवों में क्या? ” इसके बाद तीन ट्रैक्टरों की डलियों में उठा-उठाकर बोरियों की तरह फेंका जाता है। उन्हें जंगल ले जाकर शोले की तर्ज पर सारी स्त्रियों को जबरन नचाया जाता है। लेखक के शब्दों में यह तो तपते तवे पर बूँद का खौलना है, नाच-नाचकर शेष हो जाना है। डाकू गाँववालों की पशुओं को बसाती नाँद में भात,

दाल, कुम्हड़े की तरकारी खाने को परोसते हैं और साँटी मार मारकर उन्हें खाने के लिए विवश करते हैं। फलतः आदमी से निरीह पशु में ढले लोग पेट की मरोड़ में तड़प-तड़प कर मर जाते हैं। बाद में लाशों और जिंदा लाशों का बंशी ने ट्रैक्टरों पर लादकर सिकरहवा भिजवा दिया। लेखक पशुता को भी शर्मिदा कर देने वाली इस घटना पर सवाल करता है कि पूरा इलाका चुप है, देश चुप है, दुनिया चुप है। किसका राज है? क्यों राज है उसका? कुल मिलाकर तेरह मरे। यह बेतिया की दस लाख, बिहार की आठ करोड़ और देश की सत्तर करोड़ आबादी की मौत है। कोई हक नहीं होता किसी को जिंदा कहलाने का? इस तरह लेखक अपना आक्रोश और क्षोभ व्यक्त करता है।

इस तरह लेखक जंगल के जीवन की बड़ी ही खौफनाक तस्वीर प्रस्तुत करता है। इस में दिखाया गया है कि हमलों की विद्रूप प्रकृति और डाकू-पुलिस मुठभेड़ के चलते जंगल मानो युद्ध क्षेत्र बने गया है। यहाँ डाकू समस्या प्राकृतिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवेश की देन है। जाति, धर्म, पूँजीवादी व्यवस्था, शोषण, राजनीति, प्रकृति, वैवियेटेड संस्कार जैसे कई कारक यहाँ व्यक्ति को डाकू बनाते हैं। परेमा, नोनिया, परशुराम, काली, बिंदा, नरैना, जगन, नारायण, श्यामदेव जैसे युवा विवशता वश डाकू बने हैं। काली का पश्चाताप यही दर्शाता है, “हमने नहीं चुनी थी यह जिंदगी। नहीं बने थे हम इन राहों के लिए। फिर भी देखो कैसे धकेल दिए गए?” वे ऐसे भयावह नरक में फँस गए हैं, जहाँ से लाख कोशिश करके भी वे मुक्ति नहीं पा सकते। कथाकार ने इसके माध्यम से समाज में पनप रही जंगली व्यवस्था में सामाजिक बिड़बनाओं को प्रस्तुत किया है। राजनीति इस जंगल में यथास्थितिवाद की खाद डालती है। मुरली पांडे जैसा शख्स अपनी और से पूरी कोशिश करता है। प्रतीकात्मकता, समाजशास्त्रीयता, माननीय दृष्टि, मौलिकता और व्यापक फलक कथ्य के ठोस बिंदु हैं। लेखक ने तमाम घटनाओं को पूरी तरह विश्वसनीय बनाकर प्रस्तुत किया है। उसकी संजीदगी और स्वाभाविक प्रस्तुति काबिले गौर है। संजीव समकालीन हिंदी उपन्यास के प्रमुख हस्ताक्षर हैं। देश-विदेशी अस्मिता आंदलों, प्रतिबद्ध दृष्टि की बाध्यता तथा निष्कर्ष प्राप्ति की हड़बडाहट से दूर वे अपने लेखकीय एकांत में जीवन-सत्य के जिन क्षणों से दो-चार होते हैं उन्हें जस का तस पाठकों के सामने होले से रख देना चाहते हैं। हाँ, इस प्रयास में वे अपनी निजी दृष्टि और मूल्य-बोध का सुस्पष्ट संस्पर्श देना नहीं भूलते। घनघोर जटिल जीवन-विसंगतियों के बीच भी रूमान भरी नजर और आदर्श के प्रति ललक संजीव की औपन्यासिक सर्जना को जिस मोड़ पर लाकर खड़ा करती है, वहाँ वे अपनी मिसाल स्वयं है। संजीव की औपन्यासिक दृष्टि के मर्म को उनके उपन्यास ‘जंगल जहाँ शुरू होता है’ के माध्यम से बेहतर समझा जा सकता है।

‘जंगल जहाँ शुरू होता है’ का केंद्रीय पात्र कोई व्यक्ति न होकर जंगल है। जंगल जो पल-पल रूप बदल कर रात के अंधेरों में खूँखार और रहस्यमय हो जाता है और दिन के उजाले में निथरा, उजला और मासूम, जंगल जो नदी में बाढ़ बनकर जमीन लीलते हुए जिंदगियाँ बहा ले जाता है तो शांत हो जाने पर नई जमीन उगलकर नई रंजिशों की फसल पैदा करता है, जंगल जहाँ, अपराध पहाड़ों की तरह नंगा खड़ा है. . . . नदियों में दूर-दूर तक बह रहा है. . . ., जंगल जो अपने विविध रूपों और अर्थच्छवियों के साथ केलेडेस्कोपिक अंदाज में खुलने लगता है तो भूगोल मात्र नहीं रहता, व्यक्ति मन की अरण्य गाथा बन जाता है. . . .यही तो खूबी है संजीव की कि वे सबकुछ कहते नहीं, कहते-कहते बहुत कुछ अनकहा छोड़ देते हैं और वह अनकहा शब्दहीन होते हुए भी अहसास, टीस, उद्वेलन, तनाव या सवाल बन कर इस तरह मन मस्तिष्क पर दस्तक देने लगता है कि पूरा आयोजन साहित्यिक रचना का पाठ न रहकर

आत्मान्वेषण की सधन यात्रा बन जाता है। अति परिचित पात्रों एवं घटनाओं के साथ व्यवस्था की जानी-पहचानी राहों से गुजरते हुए संजीव अचानक किस दुर्गम बीहड़ में पाठक को नितांत अकेला छोड़ गायब हो जाएँगे, निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। बाहरी बीहड़ों से व्यक्ति फिर भी निपट ले, सामूहिक प्रयास एवं सामुदायिक योजना के तहत। लेकिन भीतरी बीहड़ों को खंगालने औ संवारने का कुल जिम्मा उसका अपना है। अपने ही चक्रव्यूह और ही बेघन – मंत्र! संजीव जानते हैं यह, और उनके प्रवक्ता पात्र भी। यकीनन इस जानकारी में उस भीतरी साजिश की गहरी खबर भी है जिसके तहत अर्जुन सरीखे वे व्यक्ति संयोगवश हमेशा चक्रव्यूह से दूर टेल दिए जाते हैं जो इसे तोड़ने की विद्या जानते हैं, या फिर द्रोणाचार्य की तरह किन्हीं मजबूरियों और स्वार्थों का शिकार होकर उस व्यूह को रचने और सुरक्षित रखने के लिए तैनात कर दिए जाते हैं। आश्चर्य कि युद्धनीति का इतना अहं हिस्सा होते हुए भी द्रोणाचार्य और अर्जुन अपने-अपने तई व्यूह – बंधन के अद्भुत युद्ध - कौशल को अपने तक ही क्यों संजोए रहे? क्या इसलिए कि हर दौर के हर दुस्साहसी अभिमन्यु को सबक सिखाया जा सके ?

अपने किसी प्रतिनिधि पात्र का अभिमन्यु सी शहादत भरी गरिमा देकर पाठकों की करुणा बटोरने की जुगुप्सा भरी कोशिश नहीं करते संजीव। तीखी सामाजिक-राजनीतिक समझ के बावजूद रुमानी हो जाने की प्रवृत्ति वेशक उन्हें कई बार ऐसा करने के लिए ललचाती रही है। आलोच्य उपन्यास में रूमनियत और गहरे सामाजिक सरोकार के बीच खिंचे महीन डोरे पर कुशल नट की तरह चलते हुए वे सबसे पहले अपने चेतन 'स्व' का विसर्जन करते हैं और इस प्रक्रिया में 'विदेह' होकर आत्मविस्तार कर लेते हैं- 'डी.एस.पी. कुमार, थारु जनजाति का डाकू काली, मास्टर मुरली पांडे। इस तीनों के बीच और साथ निरंतर गतिशील। भोक्ता और द्रष्टा एक साथ स्खलन और उत्थान का महाख्यान!' यह संजीव का अपना निजी वैशिष्ट्य है।

मिनी चंबल कहलाए जानेवाले पश्चिमी चंपारण क्षेत्र में विन्यस्त उपन्यास की कथाभूमि का चप्पा-चप्पा संजीव का देखाभाला है जिसे बारह वर्ष की लंबी अवधि के दौरान शोधार्थी की तथ्यान्वेषक दृष्टि, सैलानी की विस्मय- विस्फारित सम्मोहक दृष्टि, नृतत्वशास्त्री की अनुसंधान परक दृष्टि, सैलानी, लेखक की संवेदनशील दृष्टि तथा विचारक की गहन मानवीय दृष्टि से देखा है। इस क्षेत्र की इतनी गहन भौगोलिक-सामाजिक-सांस्कृतिक समझ की कथा रोककर कथा वितान में फिर न बैठ पानेवाली सूचनाओं को भी पाठकों तक संप्रेषित करने का मोह। कभी मुरली पांडे के साथ बतकही के दौरान, कभी बैठा जी के साथ विचार-विमर्श करते हुए। थारु जनजाति से संबद्ध होते हुए भी उपन्यास उस अर्थ में आंचलिक जनपदीय उपन्यास नहीं जिस अर्थ में रेणु का 'मैला आँचल', जहाँ अंचल की भीतरी परतों में प्रवाहमय जिंदगी को एक्सप्लोर करने की ललक लेखक को नॉस्टैलजिक भी बनाती है और आदर्शवादी भी, गतिशील भी बनाती है और पूर्वग्रहों से बाधित भी करती है। बैशरू थारु उत्सवों, पर्वों, मेलों, धार्मिक आयोजनों, लोकगीतों, लोक परंपराओं, अंधविश्वासों का विश्वसनीय चित्रण उपन्यास में हुआ है, लेकिन काली, बिसराम, बिसराम बहू तथा मलारी को लेकर इतने दुविधाग्रस्त हैं लेखक कि आत्मविश्वास एवं नैसर्गिक सौंदर्य से दिपदिपाती निर्भीक एवं निर्मोही, ढीठ एवं फौलादी, शक्ति एवं स्फूर्ति की प्रतिमूर्ति मलारी को विशेषणों एवं अति नाटकीय युक्तियों के पार मानवीय संदर्भों में चित्रित ही नहीं कर सके। निःसंदेह स्त्री पात्रों को लेकर एक खास तरह का संकोच संजीव के पूरे लेखन में दिखाई पड़ता है जिस कारण वे या तो स्टीरियोटाइप्स की तरह रचना में दाखिल होती हैं या 'सावधान! नीचे आग है' उपन्यास की कपालकुंडला की तरह रहस्यमयी सुंदरी के

वेश में वह विधवा मलारी जो अर्थाभाव के कारण भौजी बिसराम बहू की तरह तिल-तिलकर टूटने की बजाय इलाके, सारे डाकुओं की रखैल बन कर एक लंबे अरसे से हुकूमत चलाए हुए है, कुमार (विवेक ?) के संसर्ग में आने के बाद लंबे समय तक उपन्यास से अदृश्य हो जाती है जब सामने आती है। तो इस हृदयविदारक सूचना के साथ कि 'पत्थर से गिट्टी से रेत' बन कर अंततः राख में तब्दील हो गई है। यकीनन सरलीकरण की कोशिश जो अंचल की घनी, पुष्ट व्यापक उलझी जड़ों के जाल में तो संभव नहीं। यहाँ संजीव मलारी के चरित्र के साथ न्याय नहीं कर सके हैं।

असल में उपन्यास का केन्द्रीय विषय है-अपराध के स्रोतों की खोज और अपराध का उन्मूलन। लेकिन जंगल की आंतरिक संरचना की तरह बेहद जटिल और उलझी है अपराध जगत् की संरचना भी। इसलिए संजीव एक दी गई स्थिति के बीच से अपने लिए राह बनाते हैं। स्थिति है अपराध उन्मूलन के लिए कटिबद्ध सरकारद्वारा डाकुओं को 'अपराधी' के रूप में चित्रित करना तथा क्षेत्र में शांति एवं व्यवस्था कायम करने के लिए जोश-खरोश के साथ 'ऑपरेशन ब्लैक पाइथॉन' की शुरुआत करना। यानी डाकुओं और पुलिस के बीच आँख-मिचौनी का खेल। वे इस जंगल के ही एक बिंब द्वारा व्यक्त करते हैं- बाध और अरना भैसा गरजते - फुंफकारते हुए एक-दूसरे का पछाड़ने के लिए अपनी ही धुरी की निरर्थक परिक्रमा किए जा रहे हैं।

यहाँ सतह पर जो दीख रहा है उसे देखने से इंकार करते हुए संजीव की पैनी नजर बहुत गहरे सक्रिय उन ऊँचाइयों को देखती है जा दीमक की तरह व्यवस्था को खोखला कर रही हैं। लेकिन हैं। क्या इसलिए कि व्यवस्था का खोखलापन उनके निजी स्वार्थों की पूर्ति बिना किसी विरोध-अवरोध के कर सकता है? संजीव के भीतर का संवेदनाशील विचारक निपट अकेले कडवी सच्चाईयों का हलाहल पीकर नीलकंठ नहीं बनना चाहता। वह उन सच्चाईयों को उतने ही नग्न और बीभत्स रूप में पाठक तक ले आना चाहता है ताकि अज्ञान-मोह-भ्रम के ओढ़े-ओढ़ाए गए आवरणों की पीर कर वह स्वयं अपने विवेक से स्थिति को समझे और निर्णय ले। जाहिर है 'आपरेशन ब्लैक पाइथॉन' उनके लिए डाकू उन्मूलन अभियान से अधिक उन स्थितियों की पड़ताल बन जाता है जो उत्पीड़न को डाकू बनाने में सहायक होती है। उन्हें लगता है 'डाकू समस्या को ई ऊपरी आवरण नहीं है कि आप उसे खरोंच कर फेंक दें।' इनकी जड़ों में सुधार का न होना ढीला प्रशासन, पॉलिटिकल शेल्टर, रोजगार की समस्या, धर्म, टिपिकल भौगोलिक स्थिति वगैरह हैं - में सभी इंटररिलिटेड हैं। सारा कुछ दुरुस्त कर दीजिए, रोग खुद-ब-खुद खत्म हो जाएगा। सिर्फ एक उदाहरण से वे अपनी बात पुष्ट करते हैं कि बेतिया जिले की कुल पचास हजार एकड़ खेतिहर जमीन का नब्बे प्रतिशत एक प्रतिशत लोगों के हाथ में है। तिस पर विषमतामूलक सामंतवादी समाज व्यवस्था जहाँ भूमिहीनों, आश्रितों, खेतिहर मजदूरों, दलितों का उत्पीड़न ही शक्ति एवं वर्चस्व का प्रमाण समझा जाता है। जबरन वसूली, बेगारी, बलात्कार, दमन सामंती शानोशौकत बनाए रखने के जरूरी औजार है, जिनका विधिवत प्रशिक्षण भी उन्हीं दलित/पिछड़े वर्ग के युवकों का दिया जाता है जिन्हें जीविका के सारे मार्गों का अवरुद्ध कर दिये जाने के बाद मजबूरन मालिकों का लठैत बनना पड़ता है। इलाके के हर डाकू के यही कहानी हैं। - बाद/सूखा/भूखमरी का प्रकोण, मालिकों की दया . . . लठैत की भूमिका. . . फिरौती, लूट, आगजनी, अपहरण. . . फिर एक नई चेतना कि आतंक पैदा करके साख बनती है तो दूसरे के लिए क्यों काम किया जाए? क्यों न अपनी समानांतर सत्ता

स्थापित की जाए? नोनिया, रामरतन, परेमा, रामरिख, परशुराम, वंशी – सब एक-सी विपदा, विवशता और विकल्प के शिकार! श्यामदेव . . . जो फर्स्ट क्लास इंटर है और बेरोजगार है एक लंबे अरसे से। मजदूर पिता की सुकती कमर और बुझती आँखें देखकर दहल गया है। अपने पर शमसार, अकारण! नौकरी की निरर्थक तलाश। फिर पिता की मौत के बाद चाचा द्वारा तीन बीघा खेत कब्जिया लिया जाने पर जंगल सरकार परेमा की शरण जहाँ भीतरी-बाहरी असुरक्षा के बावजूद परिवार के लिए दो जून रोटी तो है ही।

सहानुभूति के नाम पर अतिभावुकता का शिकार होकर आँख पर पट्टी नहीं बाँधते संजीव। एक प्रश्न उन्हें निरंतर मथता है कि जिन विषम सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक-भौगोलिक परिस्थितियों का शिकार होकर परशुराम आदि को अपराधी जीवन बिताना पड़ा, उन विषमताओं के खिलाफ वे मिल कर जंग क्यों नहीं छेड़ते? क्यों नहीं अपने वर्ग की बेहतरी के लिए सुधार कार्यक्रमों को तेजी से क्रियान्वित कराए जाने की माँग करते, जब कि वे जानते हैं कि राजनीति और प्रशासन उन्हीं के सहयोग और संरक्षण के बल पर टिका हुआ है? रेता अंचल के ये सारे डाकू क्या भूल सकते हैं कि बाढ़ के दौरान जब गंडक नदी गाँव के गाँव लीलती है तब दर-ब-दर होती हैं सिर्फ अवर्ण जातियाँ, कमजोर वर्ग जब की पानी उतरने पर वही गंडक जब दलदली जमीन उगलती हैं तो उस पर स्वामित्व के दावे टोंकती हैं जिनके लिए बाढ़ खोने का नहीं, पाने का वार्षिक आयोजन बन कर आती है। सवाल उठता है कि उनकी सभी उदासीनता में अपने वर्ग के कट जाने का भाव है या भीतर पैठे सामंती दंभ की तुष्टि जो जमींदारों-महाजनों-असहायों-पिछड़ों के एक जाति मान कर वे उनके उद्धार में जुट जाते? क्यों वे भी उसी वर्ण व्यवस्था को अपनी अस्मिता की पहली और आखिरी शर्त मानते हैं जो मनुष्य का जातियों-वर्गों-वर्णों में बाँटकर एक नहीं रहने देती? यह उनकी वैचारिक संकीर्णता या मनुष्य को जातिगत द्वेषों की लंबी परंपरा जिसके चलते फेंकन दुसाघ जैसे शोषितों का शोषण। अपराध का शिकार होने के लिए छोड़ दिया जाता है? इसलिए लेखक को उन्हें राबिनहुड अपराध की छवि देने में संकोच होता है, इस तथ्य के बावजूद कि उस क्षेत्र की आम जनता अपनी समस्याओं-झगड़ों के निपटारे के लिए पुलिस या अदालत तक जाने की बजाय उनके पास आना श्रेयस्कर समझती है। पुलिस प्रशासन, न्याय व्यवस्था के खिलाफ अविश्वास डाकुओं के प्रति वैकल्पिक विश्वास का एक कारण हो सकता है लेकिन इससे उनकी नकारात्मक भूमिका को क्लीन चिट नहीं दी जा सकती। लेखक जानता है कि उनके लिए 'राबिनहुड छवि' अपराध जगत् से निकल कर संभ्रांत समाज में शामिल होने की युक्ति है। विशेष रूपसे 'दसियों खून' पच्चीसियों अपहरण और सैकड़ों बलात्कारों के आसामी डाकू परशुराम के लिए क्योंकि चुनाव लड़कर राजनीति में सक्रिय भागीदारी करना चाहता, है वह। 'पुरे चंपारन को डाकू मुक्त करने का बीड़ा उठाया हैं परशुराम जी यादव ने'। लेखक की व्यंग्य और तिवक्तता से परिपूर्ण टिप्पणी। 'तो तुही मुहवा से एक बार ई भी कह देते कि परशुराम गरीबों की मदद करता है, जिसको इंसाफ नहीं मिलता, उसको इंसाफ देता है, कराइम कंटरोल करता है, कराइम कंटरोल करता है –' प्रशस्तिपत्र पाने के लिए धमकी भरी विरियाहट। लेकिन चरित्र की बुनयादी रेखाएँ वही – प्रतिशोध और दमन। कुमार के लिए चुनाव जीतने के बाद धमकी भरा संदेश "ऊ अपना नौकरी बचाए। . . ऊ हमको समरपन करवाने का कह रहा था, हम आज कह रहे हैं ऊ आके समरपन करें। लठैत से डाकू-डाकू से विधायक-विधायक से मंत्री . . . अपराध जगत् के ग्राफ में पतन की खौफनाक गहराइयाँ और विस्मयकारी ऊँचाइयाँ देखकर हतबुद्धि है लेखक।

अपराध का दृश्यमय चेहरा। लेकिन इतने भर से संतुष्ट नहीं है संजीव। वे जंगल और राजनीति के बीच पनपते उन महीन अंतः-सूत्रों को पकड़ लेना चाहते हैं जो एक – दूसरे को संरक्षण देकर राजनीति को अपराधीकरण के जरिए अपराध को नए मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। मजेदार बात यह है कि डाकुओं का सफाया करने के लिए जो सरकार 'ऑपरेशन ब्लैक पाइथन' शुरू करती है, वह डाकुओं के बल पर ही सत्ता में आई है। महज एक उदाहरण। केंद्रीय मंत्री दुबे जी। प्रतिद्वंद्वी लल्लन बाबू से चुनाव जीतना भारी पड़ाहा ता उन्हें वेशक पक्ष में थे पुराने कांग्रेसी मास्टर साहब। लेकिन ईमानदारी चिड़िया की नाई हल्की-फुल्की। 'पलड़ा हल्का पड़ते देखा तब खबर भिजवाई परशुराम, बिंदा और गोकुल को।' दुबे जी को एक-एक दृश्य याद है कैसे 'पिछले चुनाव में इन डाकुओं ने लाख-लाख वसूल कर दिए थे पारटी फंड में', कैसे अकेले अपने बल-बूते पचास बूथ घेरे रहा बिंदा', कैसे 'लल्लन बाबू की किलेबंदी भरभरा गई और बिंदा, गोकुल, परशुराम के बूते जीत गए चुनाव, कैसे अगले चुनाव में समीकरण बदलने पर शतरंज की नई बिसात, नई गोटियाँ, नई चालें। इस बार परशुराम खुद पीपुल्स पार्टी का उम्मीदवार, इसलिए परेमा से समर्थन। हालाँकि चुनाव तक डाकुओं को न पकड़ने का 'गौरमिट का औडर' है, फिर भी सारी सावधानियाँ, सारे प्रबंध पुख्ता। पुलिस प्रशासन से सहयोग की आकांक्षा। भय से अधिक प्रलोभन की मरीचिका फैला कर! कुमार को पुलिस सेवा के लिए राष्ट्रपति पदक दिलवाने का आश्वासन- 'अगर हम पावर में रहे तो काम हुआ ही समझों। एवज में दो छोटीसी माँगें। एक चुनाव तक परेमा को भूना कर कुमार यह जिम्मा ले कि थास, धागंड, नोनिया, दुसाघ, मल्लाह के वोट हमारा पेट में पड़ें। पइसा-कोंडी और फोर्स खातिर फिकिर मत करिह – अ'।

कुर्सी बचाने के लिए कलंदर की तरह कलाबाजी खाते राजनेता एवं मंत्री लेखक के व्यंग्य एवं कटाक्ष का भरपूर निशाना बने हैं। डाकुओं का समर्थन पाने के लिए राज्य के मुख्यमंत्री डाकू उन्मूलन अभियान के सर्वाधिक सक्रिय एवं सफल अफसर कुमार को सार्वजनिक रूप से अपमानित करने में भी नहीं चूकते- 'एक तो खाकी वर्दी का मिल गया, आपका दिमाग चढ़ गया। अरे, आप का चीज हैं, जनता के सेवक – ए न? आपको क्या चीज का पावर मिला हुआ है. . . जनता जनारदन का इच्छा करने का कि उसको बर्बाद करने का? लेखक क्षुब्ध है कि डाकू समस्या के समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक पहलुओं को नजर अंदाज करनेवाली राजनीतिज्ञों के लिए औजार मात्र है। डाकू का अंत न बन कर आपसी रंजिशों का परिणाम बन जाती है।' 'मलाल इस बात का था कि सरकार जब चाहती, तभी ऐसा कर सकती थी। मगर उसने उसे तब मारा जब चुनाव में उसने इनके प्रति द्वंद्वी का साथ दिया। आज अगर दूसरी पार्टी जीती होती तो परशुराम मारा जाता और परेमा पुरस्कृत होता।' तो क्या डाकुओं का अभ्युदय, संरक्षण और सशक्त रूख वर्तमान लोकतांत्रिक व्यवस्था की आंतरिक माँग है? क्या डाकू उन्मूलन संभव नहीं क्योंकि 'डाकुओ' की शिनाख्त आजान नहीं? क्या वक्त डेड एंड पर खड़ा है- सीमान्त का आखिरी स्टेशन। इसके आगे ता कोई ट्रेन नहीं जाती। लेखक की कातरता अपमान और विवशता के कगारों का संस्पर्श कर उस समय और हृदय बिदारक हो जाती है जब प्रतिपल गहराते प्रदोष काल में हर चीज अस्पष्ट हो जाती है, बुनियादी अंतर की रेखाओं को मिटाते हुए दिन-रात, धरती-आसमान।

डाकुओं और राजनीतिज्ञों के एक मेव हो जाने के इसबिंदू में समूचा प्रशासन तंत्र भी शामिल है जो इन्हें संरक्षण देकर अपने पैरों तले की जमीन पुख्ता करता आया है। वरना क्या वजह है कि 'आपरेशन ब्लैक पॉइथन' के लिए प्रदेश भर के जिन चार निष्ठावान निर्भीक आई.पी.एस. अफसरों की छाँटा जाता ह। उनमें एक आत्मरतिग्रस्त कुत्सित पांडेय जी भी हैं। जिनकी रूचि ड्यूटी बजाने के बदले अभयारण्य में हिरण के शिकार और मांस भक्षण में है। जिनकी दिलचस्पी सिर्फ उन डाकुओं को पकड़ने में है जिनके सिर पर कम-से-कम पचास हजार रुपये का इनाम है, वरना कागजी कार्यवाही के लिए झूठे एंकाउटरों में निर्दोष ग्रामीणों की हत्या का वीभत्स आयोजन तो है ही: जो मंत्री जी की सवारी के निमित्त लहू घोड़ा बनने और तांत्रिक जी के चरणों में लोटने के लिए मात्र इसलिए तैयार है कि राष्ट्रपति मेंडल पाकर सारी खुदगर्जियाँ ढ़ाँप सकें। चूकि व्यवस्था प्रशासन और सत्ता का चेहरा एक है, इसलिए बेहतरीन पुलिस सेवा के लिए कुमार के बदले पांडेय जी नामजद किये जाते हैं, इसीलिए पुलिस डाकुओं के खिलाफ डाकुओं से आतंकित जनता का अपने प्रति विश्वास नहीं जीत पाती; इसीलिए अपनी अंतिम परिणति में 'मरीधार' हो जाता है समाज और 'लोकतंत्र'।

यदि इतना भर होता तो उपन्यास भी पढ़कर भूला दी जाने वाली रचना की तरह जल्द ही काल कवलित हो जाता। हम जानते हैं कि सदैव तथ्य आँकड़े, समाजशास्त्रीय सर्वेक्षण, निष्कर्ष, रिपोर्ट, उद्धरण, उदाहरण समाज वैज्ञानिक के लिए उपयोगी औजार होते हैं; कालबद्ध और ठोस। एक विशिष्ट भूखंड और काल खंड में रचे-बसे। मानवीय प्रकृति की अपेक्षा मानवीय स्थिति के विश्लेषक। लेकिन संजीव सर्जक कलाकार हैं – संवेदनशील और कल्पनाशील। स्वप्नद्रष्टा और भविष्यवक्ता। देश-काल में आबद्ध होने के बावजूद देश-काल का अतिक्रमण कर सार्वजनिक होने को व्यग्र। दरअसल साहित्यकार तथ्यों का उपयोग नहीं करता, उनका सृजन करता है, उनकी बाह्य मीमांसा पर नहीं जाता, भीतरी अर्थ ध्वनियों को सुनता और गूँथता है। यही वजह है कि डाकू, प्रशासन और राजनीति के घालमेल से बनने वाले अपराध के ग्राफ में उपन्यास नहीं बनता। यह ग्राफ सिर्फ पृष्ठभूमि बनाता है। उपन्यास शुरु होता है तब जब ग्राफ के निमित्त बटोरी गयी सामग्री का संयोजन विन्यास करते-करते लेखक अनजाने ही बाहर भीतर की अंतर्यात्रा पर निकल पड़ता है सचेतन (कांशस) प्रयास के विपरीत स्वत-स्फूर्त प्रक्रिया। इसलिए बेहद ईमानदार, पारदर्शी और आश्वस्तिपरक जो कि अपने भीतर के जंगल को देखना भला किसे स्वीकार्य होगा? जाहिर है 'जंगल जहाँ शुरु होता है' व्यवस्था के जंगल को खंगालने की अपेक्षा उस जंगल को चीन्हने का उपक्रम बन जाता है जिसे साथ लिए-लिए जंगल राज समाप्त करने की हसरतें पाली जाती हैं – निजी स्तर पर! सामूहिक स्तर पर! मृगमरीचिकाओं का जाल? या कस्तूरी मृगों की बदहवास दौड़? यह जंगल कुमार के भीतर लालसाओं के जरिए संध लगता हैं। आई बिल अर्न माय रिकॉग्नीशन मायसेल्फ – भरपूर आत्मविश्वास के साथ दमक रहा है डी. एस. पी. कुमार। हालाँकि स्कूल मास्टर का बेटा होने और जातिवादी समीकरणों के चलते उचित पैरवी न होने के वजह से हर बार प्रमोशन से वंचित रह जाता है, लेकिन उसे अपनी कर्तव्यपरायणता, निष्ठा और ईमानदारी पर विश्वास है। 'ऑपरेशन ब्लैक पॉइथन' के लिए चुन लिए जाने पर उत्साह का अतिरेक उसे ड्यूटी और मर्यादा के बीच दुविधाग्रस्त नहीं रहने देता। केन्द्रीय मंत्री दुबे जी की पुत्री की शादी में उनके सरपस्त तीन डाकुओं की उपस्थिति भाँप कर आनन-फानन में मार गिराता है, डाकुओं और मंत्री जी के संबंधों को लेकर मीडिया और जनता में भी बवाल मचे, उन सब परिणतियों से बेखबर। यह अतिरिक्त सक्रियता परेमा को पकड़ने के लिए उसकी पत्नी के अपहरण को भी प्रेरित करती है और परशुराम से सीधी राह मोल लेने के लिए भी। कुमार विवेकशील होने के

साथ घनघोर आशावादी भी है। दंड, एनकाउंटर, हत्या की बजाए हृदय परिवर्तन करके भीतर के मनुष्य से साक्षात्कार कराना उसकी नजर में किसी भी अपराधिक प्रवृत्ति के उन्मूलन का उपाय है। काली को विवेकानंद की पुस्तक 'दिमाग को कैसे नियंत्रित करे', तथा राहुल सांकृत्यायन की पुस्तक 'भागों नहीं, दुनिया को बदलो' भेट देने के मूल में उसकी इसी स्वप्नशीलता को लक्षित किया जा सकता है। लेकिन समूचा आयोजन उस समय बिड़बना में तब्दील हो जाता है जब मनुष्य के विवेक एवं उससे परिचालित अंतः वृत्तियों पर भरोसा करनेवाला कुमार स्वयं विवेक के अंकुश से मुक्त हो दिशाहीन दौड़ती अंत-वृत्तियों के अधीन शारीरिक – भौतिक लिप्साओं में खुली आँखों से अपना नैतिक-मानसिक पतन देखता है। सबसे पहले प्रमोशन के लिए तांत्रिकों के चक्कर, फिर तहकीकात के बहाने मलारी से संभोग। बेशक दोनों बार सहकर्मि पांडेय जी ने उसे उकसाया है और दोनों बार अपराधबोध से ग्रस्त होकर वह प्रायश्चित्त के लिए व्यग्र हुआ है, लेकिन जिस प्रकार अनजाने ही उद्धृत भाव से वह पत्नी के देह में मलारी को ढूँढने लगता है और तांत्रिक द्वारा मुख्यमंत्री के कोप से बचा लिए जाने पर तांत्रिक के प्रति कृतज्ञता महसूसता है, वह वास्तव में उस मकड़जाल की ओर संकेत है जिसमें फँसकर निकलने के मार्ग बंद हो जाते हैं। इस श्रृंखला में उसके भीतर का अपराधी सैल्फ भी दृष्टि ओझल नहीं किया जा सकता जो बिसराम जैसे अधमरे निरीह पर थर्ड डिग्री टार्चर इस्तेमाल करता है। वह नोनिया जैसे डाकू को इमोशनल ब्लैकमेलिंग के औजारों (भैया संबोधन और सुरक्षा की गारंटी) से फंदे में फँसाता है, एनकाउंटर के नाम पर हत्या के नाटक को वैध मानता है। बेशक लेखक की मान्यता है कि पुलिस अपराधी का सबसे बड़ा संगठित गिरोह है और कभी कभी कुमार को अचरज भी होता है कि ड्यूटी के नाम पर वह जो कुछ कर रहा है, क्या वह अपने मूलरूप से डाकूओं की कार्यशैली नहीं; लेकिन हर गलती पर अपने से रु-ब-रु होकर जबावदेह होना, निजी भौतिक उपलब्धियों के साथ-साथ सामाजिक दायित्वों को निभाने की व्यग्रता और असंभव में से भी संभावनाओं की खोज कुछ ऐसी विशिष्टताएँ हैं जो उसे पांडेय जैसे नर-पशु से अलग एक मानवीय पहचान देती है। बेशक अपराध और व्यवस्था के बीच की विभाजक रेखा बेहद सूक्ष्म और महीन है, लेकिन वह जिस बोध, चिंता और सरोकार से यह अटी है, उसकी पहचान मात्र ही व्यक्ति को मनुष्य बनाने के लिए पर्याप्त है।

जंगलो का उगना विभाग रेखा के लिए खतरा हो सकता है, लेकिन वह स्थिति भी अकल्पनीय नहीं जहाँ आखेट हुए बिना जंगल के बीच से सही सलामत निकल आना संभव न हो। अभ-डूब के बीच कुमार के चरित्र की यह परिणति असल में लेखक के उस रुमानियत भरे आशावाद की घोटक है जहाँ अपनी सीमाओं और क्षुद्रताओं का अतिक्रमण कर व्यक्ति पल, परिवेश और परिस्थितियों का नियंता बने बैठता है। संजीव के लिए आशावाद किन्हीं बड़बोले आदर्शों या आरोपित मूल्यों को संजोने की शेखचिल्ली सनक नहीं है, जीवन की वह महीन डोरी है जो जिजीविषा बनकर प्रतिकूल परिस्थितियों में भी मनुष्य को जिलाए रख सकती है।

क्या यही वह एक मात्र वजह है कि जंगल के दुर्दांत रूप से संजीव घबराते नहीं, वरन् तमाम रहस्यमयी भयावहता के बीच उस रूपक की परिकल्पना करते हैं जहाँ बाघ का शिकार बनाने को अभिशप्त पड़ा काल का ग्रास बनते-बनते भी अपनी समग्र अंतःशक्ति संचित करके आततायी बाघ के नुकीले दाँत को अपने पैने सींगों के सहारे उखाड़ फेंकता है? असल में यह उपन्यास का केन्द्रीय बिंब भी है जो जंगली व्यवस्था में अस्मिता की लड़ाई के लिए जंगल के नियम और कानून की स्वीकृति को अपरिहार्य बना देता है। नवोदित डाकू की तरह।

मैंने बहुत कोशिश की कि जंगल मुझ पर हावी न न होने पाए, मगर...। इस जंगल का कोई भी नियम नहीं है, पता नहीं कब, कौन, किसी कारण या अकारण ही हम पर वार कर बैठे। यह 'कौन' वह आश्रय भी हो तो कोई आश्चर्य नहीं जहाँ जान बचाने को हम सिर घुसेड़ रहे हैं। पर पल मौत का वासुकि अपने हजार-हजार फनों को फुलाए चल रहा है हमारे सिर पर। दुर्भाग्य एक पैतरा चलता है, जिन्दगी दूसरा जबकी पैतरा। काली जाती से 'बाघ' नहीं 'पाडा' है। पारु जनजाति का एक बीघे धनहर खेत पर मजूरी करते हैं और काली शहर की चीनी मिल में छंटनी के बाद नहर के ठेकेदार के पास काम करता है। सोचा था गाभिन भैंस बेचकर और ठेकेदार से बकाया पैसे लेकर खेत छुड़ा लेगे लेकिन मलिकार चंद्र दीप सिंह हाक ले गया और ठेकेदार से पैसा लेने के एवज में काली को बंधुआ मजदूरी करनी पड़ी। विषमता का मर्मांतक बोध और अचानक पाड़े पर बाघ के पंजों का दबाव 'अइसे भी मरना है, वो इसे भी...' मृत्यु के भय और प्राणों के मोह में फुफकारते, कुद्ध, बदहवास पाड़े के लोगों का निरंतर आघात - 'जब-जब हम पर जुल्म हुआ, मन बेकाबू हुआ, हमने मन को जब ही किया - है माता भवानी, हे देवता पितर, हे सोमेश्वर देव, हमको कुमारग से बचाना लेकिन आखिरकार आज ... हमने नहीं चुनी थी यह जिन्दगी। नहीं बने थे हम इन राहों के लिए। फिर भी देखों ... कैसे धकेल दिए गए।' आँसुओं से लबरेज काली की दयनीय विवशता जिसके चलते सुलेमान ठेकेदार के बेटे अलताफ का अपहरण तो कर लिया जाता है, लेकिन फुफेरी बहन मलारी की मदद से अधबीच फिरौती का सौदा करना पड़ता है। यहाँ लेखक पारिवारिक-सामाजिक जटिलता को अपराध की प्रेरक पृष्ठभूमि के रूप में चित्रित करता है।

काली के प्रति लेखक तटस्थ नहीं रह पाए हैं। एक अव्यक्त सा मोह उनकी और काली की पहचान को निरंतर गडमड्ड करता रहा है, जिस कारण डाकू के रूप में काली का प्रारंभिक असमंजस, मानसिक उद्वेग, संताप, आत्मघृणा काली का निजी अनुभव बन कर रह जाते हैं। उनकी 'मानवीय' परिधि में डाकू बना दिए गये नोनिया; परेमा; परशुराम की पीड़ा की अनगूज नहीं आ पाती। बेशक वे सब भी उत्पीड़न के प्रतिशोध में डाकू बने हैं; लेकिन जिस तत्परता से अपराध में आनंद एवं आईडेंटिटी खोजकर स्वयं 'बाघ' बन गए हैं वह काली से उनकी जातिगत भिन्नता दर्शाने के लिए पर्याप्त है। अपराध जगत् में प्रविष्ट हो जाने के बाद काली भी चरित्रिक पतन की रपटीली दलान पर आ खड़ा हुआ है। मेले बाजार में स्त्रियों का अपहरण, संभोग, बलात्कार - वह भी एक कुचले हुए अहंवादी दांव के साथ कि औरत उँची जाति की होनी चाहिए, मानों इस तरह सवर्ण व समर्थ समाज से प्रतिशोध ले रहा हो वह भैया-भाभी की खबर दरियापत के अतिरिक्त थारु समाज के लिए उसने कुछ सार्थक किया हो, उपन्यासकार संकेत नहीं देता। बस, फैल-फूलकर उसकी कमलवत्त निस्पृहता का ही वर्णन है कि फिरौती की रकम का बहुत कम अंश अपने पास रख शेष दल के साथियों में बाँट देता है। लेकिन इसके बावजूद लेखक अपनी भाषा, संवेदना, गंभीरता, दृष्टिगत उदारता एवं वैचारिक स्पष्टता देकर उसे जिस रूप में गढ़ता है, वह अपराध के बीचों बीच स्थित होकर अपराध के समूल उच्छेदन का बौद्धिक प्रयास बन जाता है। इसे दो उदाहरणों द्वारा समझाया जा सकता है। एक काली द्वारा सदैव अपने पास दो चीजों को संभाल कर रखना - माउथ ऑर्गन और कुमार साहब द्वारा दी गई पुस्तकें। वह कुमार साहब द्वारा दी गई पुस्तकों को अंततः उन्हें ही लौटाता है। 'कुमार साहब।' बोलता है काली, 'यह आपकी अमानत रह गई थी हमारे पास - ये विवेकानंद आश्रम की 'दिमाग को कैसे नियंत्रित करें' और राहुल सांकृत्यायन की 'भागो नहीं, दुनिया को बदलो।' मेरे काम तो न आ सकी, सो लौटा रहा हूँ, शायद आपके किसी काम आ सके। इस तरह लेखक संकेतित करता है कि हर विकट एवं प्रतिकूल परस्थिति में भी संवेदना तथा आत्मविश्लेषण की जरूरत रहती है।

काली की जटिल मानसिकता एवं उधेड़, बुन इस तथ्य को बराबर रेखांकित करती है कि अपराध जीने का विकल्प बनकर उसके सामने आया है, स्वयं जीवन नहीं हो गया है। यह स्थापित सत्य है कि सदैव गहरे उतरकर जीवन के मर्म का संधान मनुष्य की चिरंतन खोज है जो वैयक्तिक स्तर पर काली की निजी अकुलाहट भी है। इस तरह लेखक डाकुओं के मनोविज्ञान को उद्घाटित करने का प्रयास करता है।

इस उपन्यास में यह तथ्य परिलक्षित होता है कि संजीव के पात्रों में सारे आवरण झटककर बाहर निकलने की बैचेनी तो दिखाई देती है, लेकिन नए सपनों के साथ अपने लिए मुकम्मल जगह बनाने और हम ख्यालों को संगठित करने की ऊर्जा और धीरता नहीं। मुरली पांडेय और कुमार से जुड़ा काली अनेक बार ऐसी संभावनाएं जगाता है कि वह मुरली पांडे के ग्राम सुरक्षा दल को मजबूत नेतृत्व एवं संसाधन देकर जनता के विश्वास को अर्चित कर डाकुओं के सबसे बड़े फीडबैक को समाप्त कर देगा। संभावना यह भी जगती है कि वह कुमार को समस्या के मानवीय पहलू एवं विकल्पों से अवगत कराकर बीहड़ थारु समाज तक उसकी पहुँच सरल बना देगा। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हो पाता। क्या सिर्फ सार्थक संवाद के अभाव में। या लेखक की हड़बड़ी में जहाँ ज्यादा से ज्यादा टूंसने के मोह में बहुत कुछ अपरिहार्य छूट जाता है? अन्यथा क्या वजह है कि एक ही राह के तीन मुसाफिर — कुमार, काली, मुरली पांडे अलग-अलग पगडंडियों पर समानांतर चलते नजर आते हैं? वे चाहकर भी परस्पर सहयोगी भूमिका में नहीं आ पाते। ठीक इसी तरह ढेर-सी शंकाएँ जगाता है जंगल में बगीचे का स्वप्न देखनेवाले काली का औचक पलायन। जिस जीवट और ठंडे दिमाग से वह चंद्रदीप सिंह के पूत्र अमरेंद्र की पाँच लाख की किरौती वसूलता है, उसकी अर्धांश भी इस कार्य के लिए अपेक्षित नहीं। अलबत्ता यहाँ गहरी निष्ठा और अकूत लगन चाहिए। बेशक बगीचे के लिए फूलों के बीज उतने जरूरी नहीं जितना जरूरी है, जहरीली वनस्पतियों और खूंचार जानवरों को हटाना। पानी व्यवस्था, स्पेस, अनुशासन। यान कठोर साधना। तो, काली की पराजय क्या उस शासन व्यवस्था की विजय नहीं जिसका अविभाज्य अंग बनकर हर व्यक्ति अपने-अपने स्तर पर नाग भी है और विषहरियर भी? यह अंतर्विरोध एक कोण से यदि व्यक्ति के अंतर्मन का सत्य है तो दूसरे कोण से लेखककी राजनीतिक-सामाजिक यथार्थ की गहरी पकड़ और आशावाद की टकराहट का परिणाम भी। डिलीवरी की भरपूर तैयारी के बावजूद 'डिलीवरी' न कर पाना बांझ हो जाने की कचोट से ज्यादा उन स्थितियों और दबावों की पड़ताल का सबब बनती है जिन्हें दूर किए बिना उर्वरता और सृजनात्मकता की दृष्टि संभव नहीं। इस दृष्टि से चुनौती और चैतावनी के विस्तृत छोरों के बीच फैला काली का चरित्र पूरे समाज की नई पढ़त का रूपक बन जाता है।

यहाँ जिजीविषा संजीव की सकारात्मक सोच का वह चपल बिंदु है जो उनके समूचे लेखक को गति, ऊर्जा और पहचान देती है। यही पाठक के भीतर भावनात्मक तनाव का ऐसा भीषण इंझावात पैदा करती है कि खत्म होने का बावजूद रचना का पाठ चलता रहता है। प्रस्तुत उपन्यास में लेखक का निखट्टू आशावाद अपने ठोस एवं सधन रूप में मुरली पांडे की रूप में आकार पाता है।

सचमुच इतनी ही अपराजेय शक्ति और अनंत उर्जा के स्वामी हैं मास्टर मुरली पांडे कुमार को कहना पड़ता है, 'चौबीसों घंटे चार्ज्ड' रहते हैं। 'शोले' फिल्म से क्रूरता की प्रेरणा लेनेवाले बंशी जैसे दुर्दांत डाकुओं के उत्पीड़न के खिलाफ ग्रामवासियों को उद्बोधन ——— सत्याग्रह आंदोलन ——— पुलिस की अकर्मण्यता के कारण गाँव के कंधे मजबूत करके अपनी सुरक्षा आप करने का मूलमंत्र ——— सुरक्षा दल के लक्ष्यच्युत हो जाने पर

ग्रामोत्थान दल का संगठन — इस पूरे क्षेत्र में ई जी मनी, ईजी सेक्स, ईजी सक्सेस यानी पैसा, औरत और सफलता को आसानी से हासिल कर लेने की हवा के विरुद्ध मैं लोगों को मरते दम तक खड़ा करने की कोशिश करता रहूँगा।’ वे मानते हैं आदर्श मूल्यों की भावमूर्ति होते हैं और हर आदर्शवादी व्यक्ति अंततः निपट अकेला। फिर भी उन्हें लगता है असंभव को संभव बनाया जा सकता है, और अपने भीतर ‘नायक’ की तलाश करके, उसे अपनी आत्मा एवं अंत — शक्ति का प्रतीक बनाकर । लेकिन इसके लिए जरूरी है दृष्टि में उदारता के साथ-साथ समग्रता का समावेश जो अपने सुभीते के लिए खंडित दृश्यावलियाँ न देखे, समूचे दृश्य का विखंडन कर उसके भीतर धिपे सच से साक्षात्कार करे।’ ——— अपने आधी कथा कह कर आधी रोक ली। हर आदमी सिर्फ अपने सच पर रोशनी डालता है, पूरे सच पर नहीं। पूरा सच यह है कि ध्रुव ने कठोर तप से वह पद हासिल किया और एक आदर्श बने। सिर्फ महत्वाकांक्षा रखने मात्र से कुछ नहीं होता । कुमार के साथ पराजित तथा काली के समक्ष सम्मोहित दीख पड़नेवाले संजीव मुरली पांडे के प्रति श्रद्धानत है। उनकी दृष्टि में वे ही भविष्य के निर्माता और नायक हैं। अतः मृतमलारी के पुत्र की परवरिश एवं सरकार के लिए उन्हें मुरली पांडे के अतिरिक्त अन्य कोई सुपात्र नहीं दीखता। ‘उस नूर को. . . जो इस मायावी महाप्रत में जो कुछ श्रेष्ठ है, सुंदर है उसे बचा लेने की जिद ठाने बैठा है।’

उल्लेखनीय है कि मुरली पांडे जब व्यक्ति न रह कर प्रतीक बन जाते हैं, तब उपन्यास का शीर्षक अभिघात्मक अर्थ नकार कर व्यंजनापरक हो उठता है। जंगल शुरू होने की वैधता को प्रश्नांकित करता हुआ वह उन सारी अनुपस्थितियों को दर्ज करता चलता है जो इंसान को हैवान और व्यवस्था को अव्यवस्था में तब्दील कर देती है। यकीनन हा! हा! धिक् धिक् ! नुमा विलाप करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि विश्वास और सृजन का नाम हैं मनुष्य । यह मनुष्य ही है जिसके भीतर अविश्वास, धूर्तता, प्रतिहिंसा, हत्या, अपहरण, बलात्कार, फिरौती इत्यादि का जंगल उगा आ रहा है और वह इस जंगल को वैध-अवैध तरीके से साफ करने में लगा हुआ है। क्या व्यवस्था का जंगल उसे सफल होने देगा ? यही यक्ष प्रश्न है ?

इस उपन्यास का वैविध्यपूर्ण वस्तुविधान इस तथ्य का साक्ष्य उपस्थित करता है, कि संजीव कथानकों के कुबेर हैं और जिज्ञासाओं के भिखारी। असंख्य कथानक हैं इसके गो दाम में. . . . पहाड़ से नदी तक, रेत के विस्तार से वानस्पतिक हरीतिमा तक, आकाश से पाताल तक कच्चे मालों के खजाने ही खजाने, स्क्रेप — ही- स्क्रेप, इन्हीं अयस्कों से, स्क्रेपों से दूढ़ें हैं, उपन्यासों के पात्र और स्क्रिप्ट, चारों तरफ शोर और सन्नाटे के बीच जिंदगीकी एक मोटी परत धूल भरे कारखाने में ढलता है स्क्रिप्ट जंगल की भयावह एवं कड़वी सचाई से भी ज्यादा खतरनाक मनुष्य के आंतरिक जंगल से निर्मित हुई है कहानी। इस उपन्यास से यह भी सिद्ध होता है कि संजीव को विभिन्न किस्म की वनस्पतियों, फूलों, चट्टानों, मिट्टी की किस्मों, किस ऋतु में कौन फसल होती है, पत्तियों आदि की गहरी पहचान है। इसमें वे मैंने कई वनस्पतियों के परंपरागत नाम के साथ-साथ बोट्टा निकल नाम भी बताने लगते हैं। यह उपन्यास अपने तमाम संदर्भों तथा विविधता पूर्ण विषयवस्तु को जिस सफलता से नियोजित करता है, उससे इस की पठनीयता बढ़ जाती है, और तमाम घटनाएं पाठक की नजरों के समक्ष दृश्यमान हो उठती हैं। इस तरह विषय गत बहुलता तथा वस्तुविधान का नयापन इस उपन्यास को अर्थदीप्ति प्रदान करता है। उसे पठनीय और विचारणीय बनाता है।





‘जंगल जहाँ शुरु होता है’ का शिल्प विधान

‘जंगल जहाँ शुरु होता है’ कथाकार संजीव द्वारा लिखित मिनी चंबल अर्थात् पश्चिमी चंपारण के डाकुओं और वहाँ की मध्यमवर्गीय तथा निम्न मध्यवर्गीय ग्रामीण जीवन को आधार बनाकर लिखा गया एक विचारणीय उपन्यास है जिसका कथानक चौवन परिच्छेदों में कई पात्रों से जुड़ी छोटी-मोटी कथाओं की बुनावट से पूरा होता है। साथ ही, लेखक ने जिस एक कथा को आदि से अंत तक विकसित करते हुए रचनाशीलता का परिचय दिया है, वह कथा, डी.एस.पी. कुमार द्वारा चलाया गया ‘ऑपरेशन ब्लैक पाइथन’ का संदर्भ है और थारू आदिवासियों की त्रासदी तथा अन्य डाकुओं की कथाएँ अंततः उससे ही जुड़ जाती हैं। जिस एक कथा में कार्य-व्यापार घटित होता हुआ दिखाई देता है, वह कथा डी.एस.पी. कुमार तथा काली डाकू के चरित्र को बुनती है और धीरे-धीरे घटनाओं के घात-प्रतिघात में विकसित होती है, शेष पात्रों की कथाएँ सूक्ष्म बनकर रह जाती हैं। इन घटनाओं को पात्रों व संवादोंद्वारा सूचित कर दिया गया है। इस क्षेत्र का परिवेश अपने आप में जटिल और भयावह है अतः डाकुओं के साथ-साथ जंगल की अंदरूनी परतों को उद्घाटित करने वाला यह अपने ढंग का अनूठा उपन्यास है। इसमें मलारी के चरित्र को लेखक ने सहानुभूतिपूर्वक बुना है लेकिन उसका सम्यक निर्वाह नहीं कर सका है।

विवेच्य उपन्यास में संजीव ने कवित्व का अत्यंत संतुलित प्रयोग किया है। यहाँ कवित्व ने उपन्यास के वर्णनात्मक और इति वृत्तात्मक पक्ष को सांकेतिक बना दिया है। इसकी भाषिक प्रयुक्ति में एक खास किस्म का आवेश और तलखी पैदा हुई है। लेखक ने भोजपुरी की छौंक से समूचे उपन्यास की भाषा को जायकेदार बना दिया है। जाहिर है कि लेखक उस समूचे परिवेश से पूर्णतः परिचित है। अतः उसने इस उपन्यास के लिए अत्याधिक श्रमसाध्य कार्य भाषिक प्रयुक्तियों के रूप में किया है। इसमें विविध भाषाओं, शिल्प-रचना और संवेदना को अनुस्यूत करने में लेखक ने कठिन संघर्ष किया है। बावजूद इसके उपन्यासकार ने सृजन पूर्व तथा सृजन के दौरान अपनी शक्ति का इतना अधिक उपयोग संग्रह, अनुसंधान तथा सामग्री प्रबंधन में किया है कि वे उपन्यास के बहुतेरे वैचारिक एवं कलात्मक पक्ष की अनदेखी कर बैठे जो उपन्यास की ‘इंटेंसिटी’ के लिए जरूरी थे। मसलन घटनाओं की प्रस्तुति में दृश्यांकन और चित्रांकन कम है सूचना अथवा वर्णन अधिक। संजीव ने इस उपन्यास की निर्मिति के लिए बतौर प्रतिमान ‘मैला आँचल’ को अवचेतन में रखा है। यहाँ भी लोकजीवन अपने समूचे राग-रंग तथा पाप-पुण्य के साथ उपस्थित है, माटी की सोंधी गंध और प्रकृति का उन्मुक्त फैलाव भी है। और है जीवन-यात्रा में गिरते-पड़ते, लड़ता-इगड़ता, टूटता-बनता, जीता-मरता डाकुओं और जनता का समूह। लेकिन इसमें ‘मैला आँचल’ की तरह लोकजीवन की धड़कन, उसमें हो रहे तमाम विवर्तन, लोक संस्कृति के छंद तथा लोक भाषा की ताज़गी की कल्पनात्मक मोहक छवियों को कथा बिंबों के माध्यम से समूचा अंचल सजीव-सवाक नहीं हो पाता। लोकजीवन का जो

विविधतापूर्ण समारोह चलचित्र की भाँति 'मैला-आँचल' में पाठक को हतप्रभ कर देता है वह इसमें उस सघन बुनावट को नहीं पा सका है। इसी तरह चरित्रांकन में भी बिखराव है। उन्हें अपेक्षित संश्लिष्टता और गत्यात्मकता नहीं मिल सकी है। इसमें चरित्रों की, नामों की इतनी ज्यादा अधिकता है कि सारे चरित्रों का सर्जनात्मक विकास तार्किक परिणति तक नहीं पहुँच सका है। लेखक ने जितनी मेहनत और लगन से सामग्री संकलित की है उसे सर्वत्र सर्जनात्मक विधान नहीं प्रदान कर सका है। जब तक रचनाकार हर चरित्र के साथ, वस्तु के हर पक्ष के साथ अपनी मूर्तिविधायिनी कला चातुरी का समायोजन नहीं कर पाता तब तक उपन्यास जैसे बड़े रचना विधान को सर्जनात्मक रूपक दे पाना सहज नहीं होता। यही कारण है कि इस उपन्यास में शैल्पिक सधनता एकांत विरत है।

जब हम विवेच्य उपन्यास की भाषिक प्रयुक्तियों पर विचार करते हैं तो पातेहैं कि इसमें प्रयुक्त भाषा बेधक एवं अनेक स्तरीय है। लेखक ने स्वाभाविकता बनाए रखने के लिए पात्रों के मनोविज्ञान के अनुकूल भाषिक प्रयुक्तियों को चुना है। इस उपन्यास को उसकी भाषाई क्षमता के आधार पर भी निर्वचित व्याख्यायित किया जा सकता है। यह रचना की भाषाई शक्ति और उसका पारखी पाठक दोनों है, जो पाठात्मक सतह की व्यक्ति के पार तक फैले उसके अनंत अर्थों की आमूल असमाप्य, अस्थिर, गतिशील अर्थवत्ता का उन्मीलन विस्फोट करते हैं। पर यहाँ पाठक को अर्थगत संभावनाओं की जमीन का अतिक्रमण करने की इजाजत नहीं है। इस उपन्यास की भाषा बहुतेरे स्थलों पर अपनी मूल प्रकृति में आलंकारिक है। आलंकारिक भाषा को भाषाके सामान्योचित प्रयोगद्वारा 'अनूदित' या व्युत्पन्न मानने की अपेक्षा सचाई यह है कि आरंभ में सारी भाषाओं की प्रकृति अपने-आप में आलंकारिक रही है। भाषा के अभिधेयात्मक अथवा शब्दशः प्रयोग की अवधारणा तो भाषा की रूपकात्मक जड़ों के विस्मरण से उत्पन्न एक भ्रम भर है। जब मुरली पांडेय डी.एस.पी. कुमार को थारू आदिवासियों एवं थॉगड़ों के शोषण के बहाने उनके डाकू बनने की प्रक्रिया का निर्वचन करता है तब लेखक का भाषिक-प्रयोग देखते ही बनता है। वह लिखता है कि, "डकैतों के फीड बैंक के पाँच जोन आपने बताए, जाति-धर्म, जमींदारी, पुलिस या अर्द्ध सैन्यबल के आज के डेवियेटेड संस्कार, मौजूदाअफसरशाही और मौजूदा राजनीति का अपराधीकरण।" इस पर मुरली पांडेय जवाब देता है कि-

"चोर दरवाजे अभीऔर हैं कुमार साहब, यहाँ का विशिष्ट भूगोल, यहाँ की परजीवी सामंती व्यवस्था, यहाँ के मारवाड़ी महाजनों का उपनिवेश. . .और भी कई। किसीभी दरवाजे से आइए, आपको वहाँ डाकू बैठा मिल जाएगा, मगर जहाँ तक आपका सवाल ताल्लुक रखता है, आपको इन सारे फैक्टर्स अंतर्संबंधों और अंतर्विरोधों को सही ढंग से जोड़ते-घटाते आगे बढ़ना होगा। गौर करने की बात है कि एक ही व्यक्ति, जो क्रांतिकारी हो सकता था, जरा-सा मट्ठा पड़ा कि डाकू बन गया। ऐसा क्यों होता है, इस भेद को समझ पाएँगे, तभी आप उस बिंदु पर पहुँच पाएँगे जहाँ से एक डाकू जन्म लेता है।" मुरली पांडेय के इस कथन पर डी. एस. पी. कुमार उन्हें डाकू-समस्या पर एक पूरी पुस्तक लिख देने की सलाह देता है। यह दृष्टांत न केवल डाकूओं की पृष्ठ भूमि का संकेत करता है अपितु इस उपन्यास में प्रयुक्त संजीव की भाषा का औसत प्रयोग भी देखा जा सकता है।

'जंगल जहाँ शुरू होता है' भाषिक प्रयोग की दृष्टि से एक संकुल उपन्यास है। इस में लेखक ने केवल अंग्रेजी शब्दों का ही नहीं अपितु अंग्रेजी वाक्यों तथा वाक्यांशों का भी धड़ल्ले से

प्रयोग किया है। लेखक ने मुरली पांडेय के वक्तव्यों तथा बड़े पुलिस अधिकारियों के पारस्परिक संवादों में अंग्रेजी का धड़ल्ले से प्रयोग किया है। वाक्य रचना की दृष्टि से प्रस्तुत उपन्यास में प्रयुक्त बोलचाल की भाषा व्याकरणिक व्यवस्था का निरंतर उल्लंघन करती है। व्याकरणिक व्यवस्था वाक्य रचना में कर्ता, कर्म और क्रिया के क्रमिक अनुशासन की अपेक्षा करती है, लेकिन बोलचाल की भाषा के प्रयोग में इस अनुशासन का पालन कर पाना लगभग असंभव-सा है। ‘जंगल जहाँ शुरू होता है’ की भाषा मानक हिंदी के बजाय लोक भाषा के सन्निकट है। अतः यह बोलचाल के बहुत करीब है। विशेष तौर पर इसमें संवादों का आधिक्य है। संवाद बोलचाल का सबसे जीवंत प्रमाण होता है। इस कारण इस उपन्यास की भाषा व्याकरण के मानक को छिन्न-भिन्न करती है। साथ ही कई बार ऐसी वाक्य रचनाओं में उभरती है जहाँ पूरा का पूरा वाक्य एक शब्द भर बन जाता है। यहाँ पर ऐसे कतिपय संवाद नमूने के तौर पर प्रस्तुत हैं-

‘पहुँचानेकौन गया था?’

‘जगन्नाथ और दू आदमी और थे।’

‘जगन्नाथ!’ करंट – सा लगा यह नाम। उसने अपनी पत्नी की ओर गौर से देखा, जैसे पहली बार भर नजर देख रहा हो। वाकई बड़ी सुन्नर है।

‘मगर आज डरा रही है उसकी सुंदरता।’

‘तुमको पता है, जगन्नाथ का करता है?’

‘माने?’

‘माने काज –धंधा?’

काज का जाने! सुना बयपार (व्यापार) करते हैं। इनर देव के हियाँ तो आकर रुकते हैं!’

‘कौन चीज का बयपार।’ हाथ का कौर रोककर पूछ रहा है पति।

पत्नी आवक है, आज ऐसा क्यों पूछ रहा है दुलारी का बाप?

‘का जाने!’

‘तो जान लो, जिस तरीके से भी दू पैसा आए, उसी क बयपार।’

‘अब तक सिरिफ गाँव के लोक, परशुराम के लोग और मलिकांर ही जानते थे, अब सब जान जाएँगे।’ यहाँ लेखक जगन्नाथ द्वारा स्त्रियों की खरीद-फ़रोख्त तथा उन्हें देह-व्यापार के दलदल में धकेलने का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं करता। लेकिन संकेतों में सब है।

इस तरह लेखक ने छोटे-बड़े संवादों का पूरी सफलता के साथ विनियोग किया है। लेखक के मन में अवस्थित भाषिक व्यवस्था उसके भाषिक व्यवहार को तार्किक परिणति तक ले जाती है। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु उपन्यास में नायकीयता और फिल्मी सनसनी का संयोजन इस प्रकार हुआ है कि पाठक की उत्सुकता बढ़ जाती है। लेखक ने कतिपय ऐसे प्रसंग निर्मित किए हैं जहाँ भाषा में कवित्व का जादुई प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। लेखक निराला की कविता ‘बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु’ को उद्धृत करता है। इसी तरह दुष्यंत कुमार के इस शेर को उद्धृत करके अपनी कवित्व – लातासा को प्रकट करता है-

“इस शहर में अब कोई बारात हो या वारदात

अब किसी भी नाम पर खुलती नहीं हैं खिड़कियाँ।”

वह राम नगर में प्रचलित माटी की महिमा पर एक कविता प्रस्तुत करके कवित्वमयी भाषा से रोचकता पैदा करता है। इससे पाठक के मन को हल्कापन महसूस होता है। वह अपेक्षाकृत ज्यादा सहज हो उठता है-

“रामनगर की धनकर खेती,
एक-एक खेत रेहू की पेटी।
चार महीना लोग कमाला,
आठ महीन बैठ के खाला।”

इस तरह अपनी भाषा को कवित्वपूर्ण बना देना लेखक की भाषिक सामर्थ्य है। प्रस्तुत उपन्यास में क्रिया की लाक्षणिकता के कारण अर्थ दीप्ति को दूर तक फैला देने के लिए मुहावरों का धड़ल्ले से प्रयोग हुआ है। इस की भाषा लोकभाषा के अत्यधिक निकट है। यह भद्र लोक की नहीं बल्कि दस्युलोक की भाषा है जिसमें आम आदमी, पुलिस तंत्र तथा अपराध जगत की भाषा का धड़ल्ले से प्रयोग हुआ है। चूंकि उपन्यास का कथा लोक अतिशय व्यापक है। अतः वे सारे भाषिक नमूने आ गये हैं जो लोक में प्रचलन में हैं। डाकुओं, अपराधियों तथा पुलिसवालों के मध्य जो गाली-गलौज चलता है, लेखक ने उसे भी जीवंत रूप में उपन्यास में उतार दिया है। इसमें गालियां हैं, अश्लील अभिव्यक्तियां हैं तथा समाज में न बोले जाने वाले शब्द भी हैं। यही कारण है कि लेखक को अधिक-से-अधिक भोजपुरी प्रयोगों पर निर्भर होना पड़ा है। यह जगजाहिर वास्तविकता है कि लोकभाषा में अश्लील अभिव्यक्तियाँ भी आसानी से रच-पच जाती हैं। उनका प्रयोग पाठकीय संवेदना पर भी बुरा असर नहीं डालता है। लेखक ने डाकू समस्या पर जो भी चिंतन-मनन तथा अध्ययन किया है उसे इस उपन्यास में उतार दिया है। यहाँ पर लेखक जंगल को भी प्रतीकात्मक बना देता है जो लोगों के मन में है। अपेक्षाकृत ज्यादा अराजक, हिंसक तथा खूँखार। लेखक ने इसमें अन्तर पाठीय (Intertextual) शिल्प की उद्भावना की है। इस उपन्यास को अंतःसूत्र में पिरोने का कार्य संजीव ने बखूबी किया है। लेखक ने मुहावरों, कहावतों तथा लोकोक्तियों के सफल प्रयोग द्वारा अपनी भाषिक प्रयुक्तियों को धारदार बनाया है। इसी तरह कतिपय प्रसंगों में उसने बड़ी संजीवनी के साथ मिथकीय संदर्भों की भी नवीनतम व्याख्या की है। साथ ही, उसने इतिहास की घटनाओं और जन जातियों के इतिहास का अन्वेषण कर अपनी भ्रमरवृत्ति का निर्वचन किया है। संक्षेप में, ‘जंगल जहाँ शुरू होता है’ अपने शिल्प सौष्ठव में अकृत्रिम, पठनीय तथा उपयोगी उपन्यास है। यह समस्यापरक उपन्यासों की परंपरा को आगे बढ़ाता है। यह अपने ढंग का अपूर्व उपन्यास है।



‘हरिशंकर परसाई’ : साहित्य संबंधी मान्यताएं

परसाई जी एक जनवादी रचनाकार है और उनकी साहित्य संबंधी मान्यताएँ उनके विशुद्ध मार्क्सवादी दृष्टिकोण को ही सामने लाती हैं। अन्य मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तकों की भांति परसाई जी भी साहित्यिक कृति को रचनाकार का आत्मिक प्रयास मानते हुए भी उसमें निहित सामाजिक - सांस्कृतिक मूल्यों को उसके समाज और वर्ग की देन मानते हैं। उनका यह मानना है कि साहित्य और कला के रूप में अभिव्यक्त होनेवाली रचनाकार की चेतना का निर्धारण रचनाकार के सामाजिक अस्तित्व द्वारा होता है। प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में रचनाकार के समाज से ही अपनी प्रेरणा ग्रहण करता है। उनकी मान्यता है कि सामाजिक अनुभव के बिना सच्चा और वास्तविक साहित्य लिखा ही नहीं जा सकता। साहित्यकार और सामाजिक अनुभवों के अन्तर्संबंधों को व्याख्यायित करते हुए वे लिखते हैं, “साहित्यकार का समाज से दोहरा संबंध है। वह समाज से अनुभव लेता है, अनुभव में भागीदार होता है। बिना सामाजिक अनुभव के कोई सच्चा साहित्य नहीं लिखा जा सकता, लफ्फाजी की जा सकती है। साहित्यकार सामाजिक अन्वेषण भी करता है। उन छिपे अंधेरे कोनों का अन्वेषण करता है जो सामान्य चेतना के दायरे में नहीं आते। वह इन सामाजिक अनुभवों का विश्लेषण करता है, कारण और अर्थ खोजता है, उन्हें संवेदना के स्तर तक ले जाता है और उन्हें रचनात्मक चेतना का अंग बनाकर रचना करता है। और फिर समाज से पायी इन वस्तु को रचनात्मक रूप देकर फिर समाज को लौटा देता है। इस तरह साहित्य को एक सामाजिक कर्म हो जाता है।” स्पष्ट है कि परसाई जी साहित्य एक सामाजिक कर्म मानते हैं जो सामाजिक जीवन से अपनी प्रेरणा ग्रहण करता है।

परसाई जी की यह मान्यता है कि सामाजिक जीवन मूल्यों से अलग साहित्य के अपने कोई मूल्य नहीं होते। अपने ‘आत्मकथ्य’ में उन्होंने स्पष्ट किया है, “साहित्य के मूल्य जीवन मूल्यों से बनते हैं। वे रचनाकार के एकदम अन्तर से पैदा नहीं होते। जो दावा करते हैं कि उनके अन्तर से ही सब मूल्य पैदा होते हैं, वे पता नहीं किस दुनिया में रहते हैं।” वस्तुतः साहित्य है ही सामाजिक जीवन की पुनर्रचना। ऐसे में उसके सामाजिक जीवनानुभवों से विच्छिन्न हो जाने का सीधासा अर्थ होगा उसका पूर्णतः अवास्तविक तथा काल्पनिक हो जाना। ऐसा यूरोपियन साहित्य क्षण-भर की अचंभित या आतंकित तो कर सकता कर सकता है लेकिन समाज से कटा होने के कारण वह सहज माननीय संवेदनाओं से तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाता और प्रायः निस्पंद और प्राणहीन ढांचा-भर होता है जिसकी कोई सामाजिक उपादेयता नहीं।

परसाई जी साहित्य को एक सामाजिक पुण्य कर्म मानते हैं और इसलिए लेखकीय ईमानदारी व दायित्वबोध पर बहुत अधिक बल देते हैं। उनका यह मानना है, “साहित्य का निर्माण कोई ईंट-गारे की इमारत नहीं है, जो कोई भी विशेषज्ञ डिप्लोमा लेकर तैयार कर सकता है, यह तो एक भागीरथ प्रयास है, जिसके लिए उत्साह-आत्मा की उज्ज्वलता और पुण्य, की

धरोहर आवश्यक है।” लेखन को वे एक व्यापार या व्यवसाय नहीं तपस्या मानते हैं, “लेखन से अर्थ की प्राप्ति होती है, केवल इसीलिए लेखन व्यापार नहीं हो जाता। कपड़े के व्यापारी पर सत्य के अन्वेषण की कोई जिम्मेदारी नहीं है, मनुष्य के उज्ज्वल भविष्य के लिए उसे चिन्ता नहीं, कपड़ा बेचने के लिए उसे आन्तरिक प्रेरणा नहीं मिलती, कपड़ा बेचना यश नहीं दिलाता। कपड़ा बेचना उसकी आत्माभिव्यक्ति नहीं है। साहित्यकार की स्थिति दूसरी है, इसलिए लेखन, व्यापार कतई नहीं है। वह जीविका का साधन हो सकता है, लेकिन वह बहुत अंशों में तपस्या है। इसीलिए जिसे आत्मा बंधन महसूस होते हैं तो वह छोड़कर चला जाय। जो अपने और समाज के प्रति ईमानदारी है उनके लिए रास्ता सीधा है।” स्पष्ट है कि परसाई जी उस साहित्य को श्रेष्ठ मानते हैं जो समाज के प्रति इमानदार और मनुष्य के उज्ज्वल भविष्य के प्रति आस्थावान हो। उनका यह मत है कि आज की घोर वैषम्य व अन्यायपूर्ण व्यवस्था में केवल मनुष्य को उसके दुःखों और कष्टों से उत्पन्न निराशा व हताशा के अंधेरे को काटकर उज्ज्वल भविष्य के लिए संघर्ष की प्रेरणा दे सकता है। वे लिखते हैं, “साहित्य और कला का रसास्वादन ही एक ऐसी चाह है मनुष्य की, जो कैसी भी विकलांग सामाजिक परिस्थिति में उसके हृदय में रहेगी और बराबर वह उसको भावी जीवन की प्रेरणा देती रहेगी।”

राजनीति का साहित्य के साथ का क्या संबंध हो, इस पर परसाई जीने बहुत लिखा है। राजनीति को जीवन का एक अंग मानते हुए उन्होंने साहित्य में समग्र जीवन के यथार्थ चित्रण में राजनीति की अनिवार्यता को भी स्वीकार किया है। परसाई जी का यह मत है, “साहित्य और राजनीति का अलगाव एक भ्रम है। साहित्य का सरोकार मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन है। राजनीति मनुष्य की नियति की एक निर्णायक शक्ति है। मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा, समता, सामाजिक न्याय, शोषण-मुक्ति आदि राजनीतिक आंदोलनों के लक्ष्य होते हैं। यदि लेखक इन आंदोलनों को नाकार दे, तब वह मनुष्य के बेहतर जीवन की आकांक्षाओं से ही कट जाएगा”। परसाई जी साहित्य की प्रतिबद्धता के हामी हैं और रचनाकार की राजनीति दलगत प्रतिबद्धता को वे उसकी कमजोरी नहीं शक्ति मानते हैं, वशर्ते उसका दृष्टिकोण सामाजिक हो और रचनात्मक सौंदर्य की उससे कोई क्षति न होती हो। अपने एक लेख में इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है, “यदि कोई साहित्यकार किसी राजनीतिक विचारधारा को स्वीकार करता है, तब कोई कारण नहीं है कि वह उस राजनीति का समर्थक न हो। समाजवाद का समर्थक लेखक क्या पूंजीवाद का प्रचार करेगा? किसी राजनीतिक दृष्टिकोण को समर्थन देना, ‘पूर्वाग्रह’ नहीं, विश्वास है। यदि कोई लेखक अपने विश्वास के अनुसार नारे लगाता है, तो उसे यह हक है। वह साहित्य है या नहीं, यह इस बात से तय होगा, कि उसकी इन रचनाओं में वास्तविक जीवन और जीवन-मूल्य कितनी सच्चाई से अभिव्यक्ति हुए हैं।” एक अन्य स्थान पर इसे और स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है, कोई लेखक अराज नैतिक नहीं हो सकता। कोई सामाजिक क्रांति अन्य स्थान पर इसे और स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है, कोई लेखक अराज नैतिक नहीं हो सकता। “कोई सामाजिक क्रांति अराजनैतिक नहीं हो सकती। यदि आज के लेखन में राजनीति का मूल स्वर है, तो चिंता की बात नहीं। चिंता की बात सचमुच यह है कि राजनीति के मूल स्वर में जीवन के अन्य पक्ष न खो जाएं।” उनकी स्पष्ट धारणा है कि कोरी नारेबाजी और अखबारी टिप्पणियां साहित्य नहीं हैं।

साहित्य बेशक मानव जीवन को बेहतर की ओर ले जानेवाली किसी भी राजनीतिक विचारधारा का समर्थन करे लेकिन उसे राजनीति का पिछलग्गू नहीं होना चाहिए, ऐसा परसाई

जी का विश्वास है। परसाई जी जब प्रतिवद्धता को साहित्य की अनिवार्यता के रूप में रेखांकित करते हैं तो इसका अर्थ कदापि नहीं लिया जाना चाहिए कि वे लेखकीय स्वतंत्रता के पक्षधर नहीं हैं। वस्तुतः उनका आग्रह सिर्फ इतना है कि लेखक अपनी प्रतिवद्धताओं को स्पष्ट करें, अन्यथा कोई भी विचारधारा अथवा पक्ष चुनने की उसे पूर्ण स्वतंत्रता है। वसुधा के अपने एक संपादकीय में उन्होंने जोर देकर लिखा है, ‘‘साहित्य-सृजेता को स्वतंत्र होना ही चाहिए, तभी उनका स्वर निर्भय और स्वतंत्र होगा। शासन का पिछलग्गू साहित्य, समाज को पतन की ओर ले जाएगा। लेकिन जो लेखक को सामान्य समाज से ऊपर ऐश आराम की जिन्दगी की सुविधा कर देना चाहते हैं, वे उसकी साहित्यिक मौता का प्रबन्ध करना चाहते हैं। उसे सामान्य जन-जीवन के सुख-दुख में भाग लेना चाहिए, तभी उसके साहित्य में सत्य उभरकर आयेगा।’’ उनका यह विश्वास है कि समाज के प्रति रचनाकार तभी ईमानदार हो सकता है जब वह स्वयं अपने और अपने साहित्य के प्रति ईमानदार हो। परसाई जी लेखक का जीवन से गहरा सरोकार चाहते हैं, इसीलिए वे लेखक से जीवन के अन्वेषण और विश्लेषण की मांग करते हैं।

परसाई जी साहित्य को समाज से काटकर नहीं देखते बल्कि समग्र समाज के एक उपयोगी अंग के रूप में उसका विश्लेषण करते हैं। उनकी दृष्टि में साहित्य समग्र सामाजिक चेतना का ही एक रूप है। वे साहित्य को एक सामाजिक कर्म मानते हैं और मानव समाज को बेहतर बनाने व सामाजिक क्रांति की वैचारिक चेतना जागृत करने में उसकी सामाजिक भूमिका के प्रति पूरी तरह आश्वस्त हैं। परसाई जी एक मार्क्सवादी रचनाकार हैं और उनकी साहित्य संबंधी मान्यताएं मार्क्सवादी समाजदर्शन का ही प्रतिफलन हैं।



हरिशंकर परसाई : व्यंग्यनिबंधों की विषय वस्तु

१०.० सामान्य परिचय :

हरिशंकर परसाई सोद्देश्य व्यंग्यलेखक हैं। इनके व्यंग्य-लेखन की विषयवस्तु अत्यंत व्यापक है। कदाचित जीवन का कोई भी कोना इनकी लेखनी की पैनी धार से बच नहीं पाया है। इन्होंने राजनीति, साहित्य, राजनीतिक दल, समाज व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था, धार्मिक जकड़न, विवाह संस्था, साम्प्रदायिकता, अर्थव्यवस्था, गरीबी और असमानता, संस्कृति, सुविधाभोगी साहित्यकार, पुरस्कार नीति तथा भाषा नीति की विसंगतियों को बेनकाब किया है। इसके साथ ही व्यंग्यलेखन को अर्थ व्याप्ति तथा तेजधार प्रदान की है। यहाँ क्रमशः इनके व्यंग्यनिबंधों की विषयवस्तु का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

१०.१ साहित्य और राजनीति :

साहित्य और राजनीति दोनों का सीधा सम्बन्ध मनुष्य के जीवन से है और जीवन को अलग-अलग टुकड़ों में बाँटकर उसका समुचित एवं वस्तु परक अध्ययन नहीं किया जा सकता। मनुष्य की सामाजिक चेतना के विविध रूप धर्म, दर्शन, विज्ञान, कला, नैतिकता, साहित्य, राजनीति आदि परस्पर अंतरावलंबित हैं। इनके बीच स्पष्ट तौर पर विभाजक रेखा, खींच पाना संभव नहीं। हावर्ड फास्ट का स्पष्ट कथन है कि, राजनीति आदि परस्पर अंतरावलंबित हैं। इनके बीच स्पष्ट तौर पर विभाजक रेखा खींच पाना संभव नहीं। हावर्ड फास्ट का स्पष्ट कथन है कि, “राजनीति सामाजिक यथार्थ का सबसे महत्त्वपूर्ण घटक है। साहित्य का राजनीति से सम्बन्ध-विच्छेद करना उतना ही असंगत है जितना अर्थ का उसके शब्दों से।” हरिशंकर परसाई राजनीतिक चेतना से ओतप्रोत लेखक हैं। वे मार्क्सवादी रचनाकार रहे हैं और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी से उनका गहरा संबंध रहा है। सभी मार्क्सवादियों की भाँति परसाईजी साहित्य को सामाजिक परिवर्तन के एक उपयोगी अस्त्र के रूप में देखते हैं। ज्ञानरंजन के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने साहित्य के राजनीति के साथ संबंधों की ओर इंगित करते हुए एक मार्क्सवादी रचनाकार के विचारों को आगे रखा है। उनके ही शब्दों में, “मैं सुधार के लिए नहीं बल्कि परिवर्तन के लिए लिखता हूँ, यह कहने का मेरा यह अर्थ नहीं है कि मैं और मेरे जैसे परिवर्तनकामी लेखक केवल लेखन से समाज बदल देंगे। ऐसा दावा करना तो अहंकार और मूर्खता है। क्रांतिकारी परिवर्तन, क्रांतिकारी आंदोलन से ही होते हैं। मेरा ख्याल है कि पूरी व्यवस्था को बदले बगैर कुछ होने वाला नहीं है और इसके लिए वर्ग-संघर्ष जरूरी मालूम होता है। हम लेखक कुल इतना कर सकते हैं कि इस व्यवस्था की सड़ांध को उजागर करें और परिवर्तन की चेतना का निर्माण करें।”

कहना न होगा कि परसाईजी साहित्य को राजनीति से पूर्णतः अविच्छिन्न मानते हैं। वे शुद्ध हास्य का विरोध करते थे। उनके अनुसार कोई सामाजिक क्रांति अराजनैतिक नहीं हो सकती। यदि आज के लेखन में राजनीति मूलस्वर तो चिंता की कोई बात नहीं। चिंता की बात सचमुच यह है कि राजनीति के मूलस्वर में जीवन के अन्य पक्ष न खो जाएं। हमें ध्यान रखना होगा कि साहित्य राजनीतिक दलों का पिछलग्गू नहीं है, उसकी प्रतिबद्धताएं व्यापक होती हैं। साहित्य के लिए राजनीति एक अनिवार्यता है, रचनाकार की सामाजिक चिंताओं का व्यावहारिक समाधान का सही रास्ता है।

इसी संदर्भ में परसाईजी के लेखन की राजनीति शोषक वर्ग के अन्याय, अत्याचार और उत्पीड़न को बेनकाब कर शोषित व पीड़ित जनता के संघर्षों को वाणी देकर सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को तेज करने और इसके द्वारा स्वस्थ मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा की राजनीति है। उनके लेखन की राजनीति एक आम आदमी के दुख-तकलीफों और शोषण के निवारण तथा वर्गविहीन समाज की स्थापना की राजनीति है, जिसमें सभी को समानता का अधिकार हासिल हो। राजनीति से लेखन कैसे श्रेष्ठ, सार्थक और सशक्त बनता है, परसाईजी का साहित्य इसकी मिसाल है।

१०.२ राजनीतिक दलों पर व्यंग्य :

राजनीतिक दल किसी राज्य में रहने रहनेवाले मनुष्यों के उन संगठित समूहों को कहते हैं, जिनका राजनीतिक उद्देश्य व लक्ष्य एक समान हों तथा जो इस समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शान्तिमय व वैध साधनों का प्रयोग करते हैं। भारत में विशुद्ध राजनीतिक दलों का उदय बीसवीं शताब्दी के पहले दशक से माना जा सकता है, जब कांग्रेस पूरी तरह से राजनीतिक तेवर अख्तियार कर सामने आती है। वस्तुतः स्वतंत्रता से पहले देश में तीन ही महत्त्वपूर्ण राजनीतिक दल थे- कांग्रेस, मुस्लिम लीग और कम्युनिस्ट पार्टी। लेकिन स्वातंत्र्योत्तर भारत में लोकतंत्र की स्थापना के बाद अनेक दल गठित हो गए, जिनमें समाजवादी दल, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी, जनसंघ, जनता पार्टी, जनता दल, स्वतंत्र पार्टी आदि प्रमुख हैं। यहां यह महत्त्वपूर्ण है कि इनमें से कांग्रेस, भाजपा और वामपंथी दलों को छोड़कर अन्य किसी राजनीतिक दल के पास शायद ही पूरा संगठनात्मक ढांचा हो। परसाईजी युगीन राजनीतिक परिदृश्य का विश्लेषण करते हुए विभिन्न राजनीतिक दलों की विसंगतियों एवं विकृतियों को अपने व्यंग्य प्रहार का लक्ष्य बनाया है। परसाईजी ने प्रायः सभी राजनीतिक दलों के भद्दे और घिनौने चेहरों को बेनकाब किया है। इसके अलावा संसदीय लोकतंत्र की विसंगतियां, चुनाव प्रणाली, तानाशाही, शासक वर्ग, प्रशासन व्यवस्था, नौकरशाही, पुलिसिया तंत्र, लाल फीताशाही, भाईभतीजावाद, भ्रष्टाचार, न्याय-व्यवस्था तथा आजादी पर भी परसाईजी ने बड़ी तल्खी से व्यंग्य किया है। इनका राजनीतिक एवं शासन संबन्धी व्यंग्य समाज के प्रति उनकी चिंताओं से उपजा है और मौजूदा शोषण पूर्ण पूंजीवादी राजनीतिक व्यवस्था को ध्वस्त कर न्याय एवं समानता पर आधारित समाजवादी शासन व्यवस्था कायम करने का उपक्रम करता है। इस तरह परसाईजी की राजनीतिक चेतना अत्यंत सूक्ष्म तथा प्रखर है।

१०.३ समाज-व्यवस्था पर व्यंग्य :

हरिशंकर परसाई की सामाजिक चेतना अत्यन्त प्रखर है और युगीन समाज की वेग हरी व गंभीर समझ लेकर हमारे सामने आते हैं। परसाई जी व्यंग्य-शिल्पी हैं, और व्यंग्य का सीधा संबंध युगीन विसंगतियों व विकृतियों से हुआ करता है। और फिर परसाई जी का युग तो पूंजीवादी-साम्राज्यवादी समाज-व्यवस्था के अमानवीय उत्कर्ष का काल है, जिसने सामाजिक जीवन के किसी भी क्षेत्र को विकृतियों व विसंगतियों से अछूता नहीं छोड़ा। सामाजिक जीवन में जहां कहीं भी विकृतियां, विसंगतियां, ढोंग, पाखण्ड, अन्याय, अनाचार या शोषण परसाई जी को नजर आये, वे एक सामाजिक सफाई की भांति व्यंग्य का हथियार लेकर, इन बुराइयों पर टूट पड़े। परसाई जी की व्यंग्यधर्मिता और उनकी सामाजिक चिन्ताओं के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक परिदृश्य का अवलोकन-अध्ययन करते हुए हम अपना ध्यान विसंगतियों व विकृतियों पर केन्द्रित करेंगे ताकि यह जानने में सुविधा हो कि कौन-कौन सी युगीन विकृतियों या विसंगतियों को परसाई जीने व्यंग्यात्मक प्रत्याख्यान का विषय बनाया है। लेकिन सबसे पहले रचनाकार के सामाजिक दायित्व पर विचार कर लेना प्रासंगिक होगा।

१०.४ रचनाकार का सामाजिक दायित्व :

रचनाकार या साहित्यकार समाज का एक सदस्य है। इस नाते समाज में रहते हुए जो अनुभव उसे प्राप्त होते हैं उन्हें वह अपनी और कल्पनाशीलता और रचनाशीलता से संपृक्त कर साहित्य के रूप में प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से रचनाकार या साहित्यकार अपने संस्कार, सामाजिक, परिवेश, शिक्षा-दीक्षा, वर्गीय स्थिति तथा वर्गीय रूचि-अरुचि के अनुरूप अपने युग के सामाजिक जीवन तथा अनुभवों की सोद्देश्य पुनर्रचना करता है। साहित्यकार जिस समाज और युग में रहते हुए रचना करता है। उसके विश्वासों, मूल्यों, मान्यताओं, संघर्षों, उपलब्धियों, विफलताओं और आकांक्षाओं की छाप उसके साहित्य में अनिवार्यतः दिखाई पड़ती है। साहित्य सामाजिक घटनाओं और स्थितियों के प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता। इसीलिए किसी भी युग के श्रेष्ठ साहित्यकार की जाने बिना उस युग के समाज की सही प्रकृति को नहीं समझा जा सकता। साहित्य की इस विलक्षण सामर्थ्य के महत्त्व को रेखांकित करते हुए फ्रेडरिक एंगेल्स ने कहा था, “फ्रांसीसी समाज का जो ज्ञान मुझे बाल्जाक के उपन्यासों को पढ़कर प्राप्त हुआ वह उस युग के तमाम इतिहासकार, अर्थशास्त्री और सांख्यिकीविद् मिलकर भी नहीं दे सके।”

साहित्यकार का निर्माण साहित्य के सामाजिक अनुभवों, विचारों और कल्पना से होता है। इंद्रिय बोध, भाव और विचार हों अथवा भावना, बुद्धि और कल्पना, साहित्य के ये सभी अंतर्तत्त्व तथा अन्तर्निहित शक्तियां किन्हीं न किन्हीं अंशों में सामाजिक जीवन की उपज है और उसी से प्रेरित तथा संचालित होती हैं। साहित्य भाषा में लिखा जाता है और भाषा आद्यन्त सामाजिक वस्तु है। इससे स्पष्ट होता है कि मूलतः साहित्य सामाजिक उत्पाद है। लेकिन इसका अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए कि साहित्य समाज का पिछलग्गू है या कि अपनी उससी कोई स्वायत्त सत्ता नहीं है। साहित्य की अपनी स्वायत्त सत्ता है लेकिन यह स्वायत्तता जीवन और समाज सापेक्ष है।

रचनाकार के सामाजिक दायित्व का प्रश्न सीधे-सीधे उसके सामाजिक अस्तित्व से जुड़ा है। एक सामाजिक प्राणी होने के नाते अपने व्यक्तित्व व मनोजगत के विकास के लिए वह आवश्यक खुराक से ही ग्रहण करता है। साहित्य एक कला है, जिसकी विशुद्ध मनोरंजन से

इत्तर एक सामाजिक भूमिका भी है। और वह भूमिका है एक सामाजिक शिक्षक की जो समाज के हर पक्ष हर पहलू का विस्तृत विवेचन करते हुए उसे सामने लाता है और सभी तरह की विसंगतियों, विकृतियों व विदूषताओं से समाज को बेहतर और जीने लायक बनाना हर मनुष्य का दायित्व है और एक संवेदनशील प्राणी होने के नाते साहित्यकार पर तो यह जिम्मेदारी और भी अधिक है। अपने इस सामाजिक दायित्व से विमुख होने का सीधा-सा अर्थ है, सामाजिक उन्नति व प्रगति में अविश्वास, मानव-विकास में अनास्था। दूसरे शब्दों में, साहित्यकार की सामाजिक दायित्व हीनता उसकी समाज-विमुखता है जो उसे ले जाकर समाज विरोधी खेमे में खड़ा कर देती है। हरिशंकर परसाई ने इस विषय में स्पष्ट लिखा है, ‘‘कोई लेखक तटस्थ नहीं होता। जो लेखक तटस्थ होने का ढोंग करते हैं वे ही किनारे बैठकर तटस्थता की मछली फांसते हैं। जो जीवन से तटस्थ है, वह व्यंग्य लेखक नहीं ‘जोकर’ है। कोई भी सच्चा व्यंग्य लेखक सामाजिक संघर्ष के संदर्भों से कटकर नहीं रह सकता।’’

समाज में ही मनुष्य अपने-अपने मोर्चे पर समाज को बेहतर बनाने के अपने दायित्व का निर्वाह करता है। साहित्यकार का मोर्चा लेखक का मोर्चा है अतः उससे अपेक्षा की जाती है कि वह अपने मोर्चे पर सामाजिक परिवर्तन के संघर्ष को आगे बढ़ाये यहां यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने आता है कि रचनाकार का दायित्व किसके प्रति हो, समाज के शोषित या पीड़ित वर्ग के लिए अथवा सुविधा भोगी शोषक वर्ग के प्रति करे। यही वह प्रश्न है जो इस बात का निर्धारण करता है कि रचनाकार का दायित्व सामाजिक है अथवा नहीं। इनमें पहले वर्ग के प्रति रचनाकार की निष्ठा को ही केवल सामाजिक दायित्व की संज्ञा दी जा सकती है। विजय बहादुर सिंह ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है, ‘‘सवाल यह है कि लेखक किसके प्रति समर्पित रहे। निर्गुण आदर्शों के प्रति या भोली जनता के प्रति? परसाई दूसरे के प्रति समर्पित है। इसी समर्पण भाव से पहले के प्रति भी दायित्व संपन्न हो सकता है- अन्यथा दोनों में से किसी के प्रति कुछ नहीं किया जा सकेगा। सच्चा लेखक वह नहीं है जो उच्च मानवीय मूल्यों को अपने शब्दों की पिटारी में भरता है, बल्कि वह है जो इन शब्दों के माध्यम से चालाक और खूंखार व्यवस्था से निपटने में कमजोर किन्तु साहसिक लोगों की मदद करता है।’’ वस्तुतः समाज के उपेक्षित, शोषित तथा पीड़ित वर्ग की पक्षधरता ही रचनाकार के सामाजिक दायित्व, बल्कि सही मायनों में उसके लेखक होने की कसौटी है। हरिशंकर परसाई लेखन को एक सामाजिक कर्म के रूप में परिभाषित करते हैं, जिसका सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है, समाज से प्राप्त अनुभवों की रचनात्मक रूप देकर उसे फिर समाज को लौटा देना। लेकिन इस सामाजिक कर्म मात्र से लेखकीय दायित्व का निर्वाह नहीं हो जाता, सामाजिक विकृतियों व विदूषताओं को उभारकर समाज को बेहतर व शोषण मुक्त बनाने की सोच भी उसमें निहित होनी चाहिए। परसाई जी अन्य मनुष्यों की भांति ही रचनाकार की भी सामाजिक बदलाव में एक भूमिका, एक दायित्व मानते हैं और लेखकीय स्वतंत्रता के नाम पर उसे दायित्वबोध से मुक्त कर देने की कड़ी भर्त्सना करते हैं, ‘‘लेखक और मजदूर की राशन की दुकान एक ही है। इसलिए मैं प्रतिबद्ध हूँ, उन लोगों से जो मेरी ही राशन की दुकान से अन्न लेते हैं। दायित्व का प्रश्न उलझा प्रश्न है। मैं लेखक के नाते सारे समाज के क्रांतिकारी परिवर्तन के लिए अपना दायित्व मानता हूँ। इस जनसामान्य के संघर्ष में मैं साथ हूँ, इसीलिए प्रतिबद्ध हूँ। जो अप्रतिबद्ध है, न वे इस तरफ हैं न उस तरफ। उन्हें साफ-साफ अपनी प्रतिबद्धता की घोषणा करनी चाहिए।’’ कहना न होगा कि अपने सामाजिक दायित्व के प्रति हरिशंकर परसाई पूरी तरह सोचते हैं और सामाजिक बदलाव के जनसंघर्ष में ‘कैटलिस्ट’ की भूमिका को बखूबी निभाते हैं। यही नहीं, वे समाज-विरोधी और प्रति क्रांतिकारी शक्तियों से भी बखूबी परिचित हैं।

कहा जाता है कि रचनाकार का सामाजिक दायित्व ही उसे एक सच्चा लेखक और प्रथमतः एक संवेदनशील सामाजिक प्राणी सिद्ध करता है। अन्यथा दायित्व बोध से रहित मनुष्य बिना हड्डी के उस जीव के समान है जिसकी कोई सामाजिक उपादेयता नहीं।

१०.५ वर्ण-व्यवस्था एवं जाति-पांति पर व्यंग्य :

हरिशंकर परसाई प्रखर सामाजिक चेतना-संपन्न एक प्रतिबद्ध रचनाकार है। उनका सामाजिक व्यंग्य उनके गहरे सामाजिक सरोकारों की उपज है। एक सूक्ष्म पर्यवेक्षक होने के नाते परसाई जी ने अपने युगीन समाज का गंभीर तथा गहरा अध्ययन किया और एक 'सामाजिक सफाई कर्ता' के दायित्व का निर्वाह करते हुए सामाजिक रूढ़ियों, कुप्रथाओं और अप्रासंगिक मान्यताओं पर कठोर प्रहार किया है। सामाजिक विकृतियों एवं विसंगतियों के प्रति वे अत्याधिक संवेदनशील हैं और उन पर चोट करने का एक भी अवसर हाथ से जाने नहीं देते। भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था एवं जातीय भेदभाव पर उन्होंने अपनी इसी सामाजिक प्रतिबद्धता के तहत निर्मम प्रहार किया है। उनके श्रम पर मौज करने वाले और उनसे हर तरह की सेवा करानेवाले ऊँची जातियों के लोग उन्हें पशुओं से भी निरन्तर एवं अछूत मानते हैं। यह और बात है कि मौका पड़ने पर रात के अंधेरे या किसी निर्जन एकान्त स्थान में वे अछूत स्त्रियों से निर्लज्ज प्रणय-याचना करने और उनके न मानने पर जबरदस्ती मानमर्दन करने में भी संकोच नहीं करते।

जाति-पांति और अछूत और छुआछूत की इस सामाजिक विसंगति पर आदिकाल से ही तीखे व्यंग्य किये जाते रहे हैं। 'सद्भावना भवन में बालात्कार' और भागलपुर के 'चौबेजी' शीर्षक लेखों में परसाई जी ने जाति प्रथा पर अपने निराले अंदाज में चोट की है, "इस गांव में हरिजन है और ब्राह्मण-वैश्य वगैरे भी हैं। मगर सद्भावना का कोई काम नहीं हो रहा है। आखिर उस गांव के सवर्णों को शर्म आयी। ८-१० दिन पहले एक ब्राम्हण सिपाही और एक वैश्य शिक्षक ने एक हरिजन स्त्री को सद्भावना भवन में बन्द किया और दो दिनों तक उससे बलात्कार किया। सद्भावना भवन पवित्र हुआ।" परसाई जी ने यहां वक्रोक्ति के कुशल प्रयोगद्वारा विसंगति को उभारा है। "बलात्कार से सद्भावना भवन पवित्र हुआ" उक्ति अपनी विद्रुपात्मकता से व्यंग्य को गहरा और धारदार बना देती है।

जातीय श्रेष्ठता का दंभ भरनेवाले सवर्ण यूं तो अछूतों को घृणा व तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं, लेकिन ऐन्द्रिय सुख पाने के लिए वे जातीय उच्चता और छुआ-छूत के तमाम भेदों को भुलाकर उनके शारीरिक संबंध बनाने में संकोच नहीं करते और न ही इससे उनके जातीय गौरव की कोई हानि होती। इस विसंगति पर परसाई जी हास्यपूर्ण शैली में चोट करते हुए लिखते हैं, "अपने मानदण्ड बड़े सधे हुए है। परिजन स्त्री से बलात्कार करने से छूत नहीं लगती, पर उसका भाई अगर छू ले तो छूत लग जाती है। नहाना पड़ता है। झगड़ा चन्दन, चोटी और जातिगत पवित्रता का नहीं है। दूसरा हैं। यों तो चमार बाल्मीकि की 'रामायण' पर शोध करके पण्डित प्रोफेसर हो गये है। जुलाहे कबीर पर शोध करके ऊँची जाति के लोग डॉक्टर लेते हैं और कॉलेज में नौकरी करते हैं। साधो, हरिजन हमारे लिए जरूरी हैं। सेवा करने को हरिजन चाहिए। वह मैला उठाये, सफाई करे, जूते बनाये। खेतों पर काम करने को हरिजन चाहिए। औरतें चाहिए। समाज को हरिजन को बड़ी जरूरत है"। सवर्णोंद्वारा जातीय भेदभाव के आधार

पर निम्न जातियों का कैसा शोषण किया जाता है, यह उदाहरण उसका कच्चा-चिट्ठा खोल देता है।

हिन्दू समाज की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि इसमें जातीय आधार पर ही भेदभाव नहीं किया जाता बल्कि विभिन्न जातियों में भी लिंग के आधार पर भेद किया जाता है। अछूत से शरीरिक संबंध बनाने से सर्वर्ण जाति का पुरुष अछूत नहीं होता किन्तु अछूत पुरुष से संबंध बना लेने पर सर्वर्ण जाति की स्त्री अपवित्र हो जाती है। उस पर बिडम्बना यह है कि उच्च जाति की अपवित्र स्त्री को शुद्ध करने का विधान हमारे समाज में है किन्तु नीच जाति के स्त्री-पुरुष के जाति परिवर्तन का कोई विधि-विधान नहीं। परसाई जी जाति-पाति के इस घिनौने पक्ष पर तिलमिला देने वाला व्यंग्य करते हैं। ‘जात बदली शादी’ लेख में वे एक हरिजन से ऊंची जाति की लड़कीवालों की प्रतिक्रिया का यथार्थ चित्रण कर व्यंग्य की सृष्टि करते हैं, “वह लड़की उस हरिजन की पत्नी हो चुकी थी। साथ रहे तो शरीर-संबंध भी हो गया होगा। पर ऊंची जातिवालों ने लड़की को ‘शुद्ध’ करके फिर उसे अपनी जाति का बना लिया। उसकी जाति के कई घरों में उसे भोजन कराया गया और उसका जाति मिलौना हो गया। अब साधो, उस लड़की में क्या अशुद्ध हो गया था, जो अब शुद्ध हो गयी। उसने हरिजन के साथ रोटी भी खायी और उसके साथ सोयी भी। शायद पेट में हरिजन युवक का बच्चा भी रखे हो, फिर वह शुद्ध कैसे हो गयी। फिर अगर लड़की का उस हरिजन युवक से प्रेम रहा होगा तो वह अपनी ‘शुद्धता’ पर रो रही होगी। अपनी जातिवालों को गाली दे रही होगी- इस कमीनी जाति का ही नाश हो जाए।” बर्नार्डशा ने एक जगह कहा है कि व्यंग्य लिखने का सर्वोत्तम तरीका है सत्य कहना। उपर्युक्त उदाहरण परसाई जी के थोथे जाति-दंभ की खिल्ली उड़ाई है बल्कि प्रेम जैसे विशुद्ध मानवीय भाव को जातीय बंधनों में आबद्ध करनेवाली रूढ़ व असंगत मान्यताओं पर भी करारी चोट की है।

सर्वर्णों का जातीय श्रेष्ठता का दंभ वास्तव में एक ढोंग है। अन्यथा श्रेष्ठता या अच्छाई केवल ऊंची जाति की ही बपौती नहीं। किन्तु क्योंकि सभी प्रकार के साधनों पर ऊंची जाति के लोगों का एकाधिकार है और राजनीति व धर्म की शक्ति भी उसके हाथ में है, इसीलिए वे अपने-आपको श्रेष्ठ मानते हैं और नीची जाति का बेतरह शोषण करते हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि किसी जाति विशेष में ही जन्म ले लेने से कोई श्रेष्ठ नहीं हो जाता। इस विद्वप को परसाई जी ने “ऊंची जातियों का आरक्षण” लेख में उभारा है, “हजारों साल पहले ऊंची जातियों ने यह मान लिया था-जो कुछ भी समाज में उपलब्ध है, हमारा है। वंचित रहना नीची जातियों का धर्म है। मान, प्रतिष्ठा, धन सब ऊंची जातियों का अधिकार हैं। स्कूल में मेरे साथ एक नाई का लड़का पढ़ता था। वह मुझसे ज्यादा होशियार था। मुझे गणित पढ़ाता था और नकल भी कराता था। वह आता तो कहता- हरिशंकर, नमस्ते। मेरे चाचा ने उसे डांटा- तू नाई होकर नमस्ते करता है। पालागी किया कर। उन्हें क्या पता कि उन जैसे श्रेष्ठ ब्राह्मण के भतीजों को वह नाई पढ़ाता और नकल कराता है”। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के ढोंग और जाति-दंभ पर यह कराए व्यंग्य है। इसी संदर्भ में परसाईजी जब यह पूछते हैं, “कि अगर जाति इतनी बुनियादी चीज है तो अलग-अलग जाति की अलग-अलग गंध होती। ब्राह्मण की गुलाब की गंध, वैश्य की चम्पा की गंध। तेरे शरीर से गेंदा के फूल की गंध आ रही है। तू हरिजन है।” इस तरह व्यंग्य एक नई अर्थक्ता से सम्पुक्त होकर और गहरा हो जाता है।

हिन्दू समाज में उच्च जातियों की निरंकुश सत्ता के चलते नीची जाति पशु-तुल्य जीवन जीने को विवश है। हिन्दू समाज मनुद्वारा स्थापित वर्ण व्यवस्था पर गर्व करता और उसे ईश्वरीय विधान के रूप में स्वीकार करता है। यह वर्ण-व्यवस्था उच्च जातियों की पक्षधर है और नीची जाति पर उसके जुल्म और अत्याचार को विधिसम्मत बताती है। यह व्यवस्था नीच जाति की तुलना सूअर और कुत्तों से करती है। परसाई जी इस वर्ण-व्यवस्था को मनुष्य का गोश्त खाने वाली व्यवस्था मानते हैं और इसकी क्रूरता व अमानवीयता का पर्दाफाश करते हैं, “हमारी प्राचीन सभ्यता और संस्कृतिवाली जाति भी पाँच हजार सालों से मनुष्य का माँस खा रही हैं, सिर्फ मनु महाराज के नियम देख लीजिए-जैसे शूद्र यदि द्विज का नाम भी घृणा से ले, तो उसके मुँह में लोहे की गरम छड़ ठूस दी जाए। यदि शूद्र राजा या ब्राह्मण को उसका कर्तव्य बताने की धृष्टता करे, तो उसके मुँह और कान में गरम तेल डाल दिया जाए, मगर यदि ब्राह्मण को मार डाले, तो उसे उतना ही प्रायश्चित्त करना पर्याप्त होगा, जितना सुअर और कुत्ते की मारने के लिए।” वर्ण व्यवस्था की क्रूरता पर परसाई जी मात्र व्यंग्य करके ही नहीं रह जाते बल्कि अपने एक अन्य लेख ‘कबीर का स्मारक बनेगा’ में वे मनु के विधान की धजियाँ उड़ा देते हैं। नीची जातियों में चेतना के उदय के परिणाम स्वरूप वे विश्वास भी व्यक्त करते हैं कि यह स्थिति अधिक देर नहीं रह सकती।

साम्प्रदायिकता की ही भांति जातिवाद की समस्या भी अपने मूल रूप में एक सामाजिक समस्या है। लेकिन परसाई जी की विशेषता यह है कि वे जातिवाद की समस्या को विशुद्ध रूप से सामाजिक समस्या नहीं मानते बल्कि वे उसके राजनीतिक और आर्थिक पहलुओं का भी विश्लेषण करते हैं और उसकी आड़ में कार्य कर रही राजनीतिक व आर्थिक ताकतों को बेनकाब करते हैं। ‘सज्जन, दुर्जन और काँग्रेसजन’ शीर्षक लेख में वे काँग्रेस पार्टी की जातिवाद की राजनीति को काँग्रेसी नेता की स्वीकारोक्ति के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं, “मेरा दूसरा प्रश्न था, जनसंघ के सम्प्रदायवाद से संघर्ष करने के लिए आपके पास क्या प्रोग्राम है? इस प्रश्न से वे खिल उठे। बड़े आत्मविश्वास से बोले, इस समस्या की पकड़ जितनी ठीक मुझे हैं, उतनी इस नीति से जनसंघ का पानी उतार दिया। तुम हिन्दुवाद चलाओगे, तो मैं ब्राह्मणवाद चलाऊंगा”। जातिवाद काँग्रेस की राजनीति का हिस्सा है, ठीक उसी तरह जिस तरह सम्प्रदायवाद जनसंघ या भारतीय जनता पार्टी की राजनीति का अभिन्न अंग है। अपनी राजनीतिक स्वार्थसिद्धि के लिए काँग्रेस ने सम्प्रदायवाद की काट केलिए जाति-पांति के भेद भाव को बढ़ावा दिया। ताजातरीन स्थिति से स्पष्ट है कि भारतीय जनता पार्टी और काँग्रेस के सत्ता संघर्ष में जातिवाद उसी अनुपात में बढ़ा जिसमें साम्प्रदायिकता की समस्या अनुपात परसाईजी ने यहां देश में जातिवाद के उभार के लिए काँग्रेस को दोषी ठहराते हुए उसके जन-विरोधी चरित को उभारा है।

देश में जातिवाद को बढ़ावा देने में संघ की भूमिका भी कम महत्वपूर्ण नहीं, वास्तव में संघ की जो हिन्दू राष्ट्र की परिकल्पना हैं उसका आधार ही पूर्णतः वर्ण पर आधारित है। मनु की वर्ण-व्यवस्था में उसकी पूर्ण आस्था हैं जो समाज की ऊंची व नीची जातियों में विभक्त करती है और समस्त अधिकार ऊंची जातियों को देती है। नीची जाति के लिए इसमें यदि कोई स्थान है तो वह है पशुओं से भी बदतर गुलामों का। ‘संघ का पुलिस-प्रेम’ में परसाई जी ने संघ की स्वयंसेविकाओंद्वारा पुलिसवालों को राखी बांधने की घटना के प्रसंग को संघ के सिद्धान्तों और मूल चरित से जोड़कर जो ‘कोलाज’ बनाया है वह संघ की जाति संबंधी संकीर्ण राजनीतिक

मान्यताओं का एकदम स्पष्ट व यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है, “राखी बांधने के पीछे स्वयंसेविकाओं की भावना यह है कि- हे भैया थानेदार, और हवलदार और सिपाही, तुम बड़े प्यारे भाई हो। यह हिन्दू राष्ट्र है। हिन्दू राष्ट्र ही नहीं ऊंची जातियों का राष्ट्र है। इसमें सच्ची भारतीय नारी ऊंची हिन्दू जाति की होती है। ब्राम्हण, बनिया, ठाकुर स्त्रियां ही तुम्हारी सच्ची बहनें हैं। मुसलमान और हरिजन स्त्रियों को तुम सच्ची बहनें मत मानना। ये विदेशी और नीची औरतें हैं। तुम भैया, ऊंची जातिवाली तो तुम्हारी सगी बहनें हैं। हमारी रक्षा करना।” संघ के इस हिन्दू राष्ट्रवाद का विरोध परसाई जी की रचनाओं में प्रमुखता से मुखरित हुआ है, जो एक स्वस्थ समाज के निर्माण के प्रति उनकी सामाजिक चिन्ता का परिणाम है। एक ऐसे समाज के निर्माण के प्रति परसाई जी प्रतिबद्ध हैं, जिसमें आदमी-आदमी के बीच कोई दीवार न हो, उनके बीच एक ही संबंध हो-प्रेम और इंसानियत का है।

राजनीतिक स्वार्थ सिद्धि के लिए राजनीतिक दलों ने जातिवाद का जैसा प्रयोग किया उसके चलते जातिवाद का प्रसार देश में कैंसर की तरह हुआ। सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र को उसने बेहतर प्रभावित किया। जातिवाद ने किस तरह ईश्वर को भी बांट दिया है इसका सशक्त उदाहरण परसाई जी ने ‘देव भक्ति’ में दिया है, “शहर में गणेशोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। प्रथा कुछ ऐसी चल गयी है कि हर जाति के लोग अपने अलग गणेशजी रखते हैं। इस तरह ब्राह्मणों के गणेश अलग होते हैं। इस साल ब्राह्मणों ने अपने अलग-अलग मूर्ति रखी। अग्रवालोंने अलग, तेलियों ने अलग, कुम्हारों ने अलग। आखिरी दिन गणेश जी विसर्जन के लिए जो जुलूस निकलता है, उसमें सबसे आगे ब्राह्मणों के गणेश जी होते हैं। इस साल ब्राह्मणों के गणेश जी का रथ उठने में जरा देर हो गयी। इसीलिए तेलियों के गणेश जी आगे हो गए।” जब यह बात ब्राह्मणों की मालुम हुई तो बड़े क्रोधित हुए। बोले-तेलियों के गणेश जी की ऐसी-तैसी। जाति पांति का तीव्र भेद किस तरह मानवीय चेतना को अवरुद्ध कर अवांछित की महत्ता स्थापित करता है, इसका उद्घाटन करते हुए परसाईजी जातिवाद की विकरालता को सामने लाते हैं। लेकिन इससे जातिवाद की समस्या का समाधान परसाई जी वर्ग-चेतना की मानते हैं और इसे जागृत करने पर बल देते हैं।

वर्ण-व्यवस्था एवं जाति-पांति के भेदभाव को परसाई जी न केवल शोषित वर्ग की एकता बल्कि राष्ट्रीय एकता में भी सबसे बड़ी बाधा मानते हैं और इसमें समाज को छुटकारा दिलाने के लिए व्यंग्य रूपी हथियार का कारगर इस्तेमाल करते हैं। परसाई जी एक प्रतिबद्ध रचनाकार हैं और उनका दृष्टिकोण पूर्णतः मार्क्सवादी है। इसीलिए वे जाति-पांति की समस्या को राजनीतिक व आर्थिक कारणों से अलग करके नहीं देखते बल्कि समग्रता में उसका विश्लेषण करते हैं। जातिवाद की समस्या का उन्होंने गहन तथा गंभीर विश्लेषण करते हुए उसके खतरों से पाठकों को आगाह किया है। इससे स्पष्ट है कि व्यंग्य उनके यहां कलम के मोर्चे का बहुत बड़ा अस्त्र बना है।

१०.६ अन्य पक्ष :

परसाईजी मनुष्य को बांटने वाले सभी तत्त्वों का विरोध करते हैं। वे समाज में मध्य वर्ग की अवस्थिति एवं उसके मूल चरित्र को गहराई से पकड़ते हैं। वे नारी शोषण के साथ-साथ विवाह-संस्था पर भी व्यंग्य करते हैं। देश में मौजूदा शिक्षा व्यवस्था के यथार्थ को परसाईजी ने अपनी रचनाओं में उघाड़कर रख दिया है। वे उसके काले चेहरे से पाठकों को परिचित कराते हैं

और मनुष्य के सामाजिक जीवन में उसकी अप्रासंगिकता को उभारकर शिक्षा नीति की निस्सारता के प्रति उनका आक्रोश जगाते हैं। शिक्षा व्यवस्था पर परसाईजी का व्यंग्य प्रखर और पैना है। हरिशंकर परसाई हमारे सामने धर्म और उसके वास्तविक स्वरूप की एक सही समझ लेकर आते हैं। धर्म के नाम पर होनेवाले शोषण का उन्होंने भंडाफोड़ ही नहीं किया बल्कि ऐसा करते हुए उन्होंने धर्म के समाज-विरोधी पक्ष को भी उजागर किया है। उनके व्यंग्य का श्रेष्ठतम व प्रखरतम रूप धार्मिक व्यवस्था के खिलाफ उनके व्यंग्य के रूप में ही प्रकट हुआ है।

हरिशंकर परसाईने धार्मिक कर्मकाण्ड, रूढ़ियों, अंधविश्वासों, ढोंग, पाखण्ड और मिथ्याचार को एक प्रगतिशील समाज के निर्माण में सबसे बड़ी बाधाएं मानते हुए पूरी ईमानदारी और सन्नद्धता के साथ इन पर आक्रामक प्रहार किया है। एक सामाजिक चिकित्सक के दायित्व का निर्वाह करते हुए समाज की इन विगलित, विकृत मान्यताओं को गले-सड़े अंगों की तरह काटकर अलग फेंक देने का प्रयास उनकी रचनाओं में पूर्ण ईमानदारी के साथ व्यक्त हुआ है। लेखक ने ऐसा करने के लिए व्यंग्य की 'ऑपरेशन किट' के हास्य, उपहास, वक्रोक्ति, कटाक्ष और वाग्दंश जैसे औजारों का सार्थक प्रयोग किया है। धार्मिक कर्मकाण्ड के साथ-साथ साम्प्रदायिकता की समस्या का परसाईजी ने गहराई व गंभीरता से विश्लेषण करते हुए उसकी तह में जाकर उसके मूल कारणों की खोज की है। इनका बहुत सा व्यंग्य छद्म को लेकर है। लेकिन समाजसेवियों के छद्म की तो उन्होंने बहुत निर्ममता से बखिया उधेड़ी है। समाज की शायद ही कोई विसंगति या विकृति हो जिस पर उन्होंने एक निश्चित सामाजिक सोद्देश्यता के तहत प्रहार नहीं किया। जाति प्रथा और उच्च जातियों का दंभ विशेष रूप से परसाईजी के व्यंग्य का लक्ष्य बने हैं। समाज में नारी की दयनीय स्थिति और उसके शोषण को भी परसाईजी ने अपने व्यंग्य का विषय बनाया है। इनका अर्थतंत्र संबंधी व्यंग्य पूँजीवादी-साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था में अन्याय, शोषण, उत्पीड़न, आर्थिक वैषम्य और अमानवीयता को विभिन्न संदर्भों में विभिन्न स्तरों पर उघाड़ता है। वैषम्य पूर्ण अर्थव्यवस्था और विसंगत अर्थनीति को काटने के लिए व्यंग्य का जैसा कुशल प्रयोग परसाईजी ने किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।



निबंध

११.१ अकाल उत्सव :

यह परसाईजी की एक महत्त्वपूर्व रचना है जिसमें 'स्वप्न कथा' के माध्यम से संसदीय लोकतंत्र के विद्रूप को ही नहीं उधाड़ा है बल्कि देश की मौजूदा लोकतांत्रिक प्रणाली पर मर्मान्तक प्रहार भी किया है। इस स्वप्न कथा में परसाईजी जनवादी क्रांति का चित्रण करते हुए बेमानी, निरर्थक तथा जनविरोधी लोकतांत्रिक प्रणाली को ध्वस्त कर देते हैं। वे लिखते हैं कि, "देखता हूँ कि अकाल-उत्सव के मूड में ढोलक बजाकर नाचते-गाते भूखे, अधमरे राजधानी में आ गये हैं और बड़ा भयकारी दृश्य मुझे दिखता है। एक विधायक पहचान का मिलता है। उसका एक हाथ ही नहीं है। आस्तीन से खून टपक रहा है। मैं पूछता हूँ- यह क्या हो गया ? वह कहता है- वही अकाल-उत्सव वाले लोग मेरा हाथ खा गये। किसी विधायक की टांग खाली गयी है। किसी मंत्री की नाक चबा ली गयी है, किसी का कान। भीड़ बढ़ती जाती है। विधायक और मंत्रीगण भाग रहे हैं। एकाएक सैकड़ों जमाखोरों और मुनाफाखोरों को लोग पकड़ लाते हैं और उन्हें भून रहे हैं। कहते हैं- तुम्हारी भूख इतनी विकट है कि अपना ही भुना गोश्त खाए बिना तुम्हारा पेट नहीं भरेगा। सारे विधान भवनों में सन्नाटा। अब ये भूखे क्या खायें ? भाग्य विधाताओं और जीवन के थोक ठेकेदारों की नाक खा गये, कान खा गये, हाथ खा गये, टांग खा गये। वे सब भाग गये। अब क्या खायें। आखिर वे विधान सभा और संसद की इमारतों के पत्थर और ईंटें काट-काटकर खाने लगे।" यह व्यंग्य सत्य की उस परिकल्पना पर आधारित है जो लोकतंत्र का मूलाधार भी है। अपने अधिकारों के प्रति सजग जनता की शक्ति का उदय उस सच्चे लोकतंत्र की शुरुआत का संकेत भी है जहां वास्तविक शक्ति जनता के अपने हाथों में होती है और कहना न होगा कि ऐसी व्यवस्था समाजवादी व्यवस्था ही हो सकती है। समाज के भूखे और पीड़ित लोगों के प्रति परसाईजी की चिंता बेमानी तथा जनशक्ति से शून्य लोकतंत्र में उनकी अनास्था, उनकी सामाजिक प्रतिबद्धताओं को पूरी प्रखरता से प्रतिबिंबित करती है। परसाईजीने भारतीय लोक तांत्रिक प्रणाली को पूरी तरह असंगत ठहराते हुए उसको व्यंग्य बाणों से पूरी तरह से ध्वस्त करने का प्रयास अपनी रचनाओं में करते हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं निकाला जाना चाहिए कि जनता की शक्ति में उनका विश्वास नहीं है। समाज और शासन की बागडोर को वे पूरी तरह जनता के हाथों में सौंपने के पक्षधर हैं। लेकिन अपने भारत में लोकतांत्रिक प्रणाली के जन-विरोधी व्यवहार के कारण वे उसके मौजूदा स्वरूप को जनवादी नहीं मानते। अन्यथा लोकतंत्र, जनवाद में उनका पूरा विश्वास रहा है।

वस्तुतः हमारे यहाँ लोकतंत्र की सबसे बड़ी विसंगति है चुनाव की स्वतंत्रता का अभाव और लाभ-लोभ में फंसकरजन-प्रतिनिधियों का बिकाऊ हो जाना। भारत के राजनीतिक जीवन का सबसे विकृत पक्ष यह है कि यहाँ राजनीति पैसे की गुलाम होकर रह गयी है। चुनाव पैसे और ताकत के जोर पर होते हैं और इसी प्रकार जन प्रतिनिधियों को भी आगे अपना नेता चुनने का

अधिकार नहीं होता? जबकि लोकतांत्रिक प्रणाली की ये अनिवार्य शर्त है। इस विसंगति के कारण ही 'अकाल उत्सव' की नौबत आती है।

११.२ वैष्णव की फिसलन :

लोभ-लाभ पर आधारित पूंजीवादी व्यापारी वर्ग नीचता की किसी भी सीमा तक गिर सकता है। लेकिन सामाजिक दिखावे के लिए वह धार्मिक व दानी होने का पूरा नाटक करता है। यह एक निर्विवाद सत्य है कि ईमानदारी व उचित साधनों से मुनाफा कमाना एक दुष्कर कार्य है और व्यापारी वर्ग में धन कमाने की इतनी अदम्य लालसा है कि वह इसके लिए कोई भी अनुचित, भ्रष्ट तथा घृणित तरीका अपनाने से नहीं हिचकता। लाभ कमाने के लिए किसी भी सीमा तक गिर जाने की पूंजीपतियों की इस प्रवृत्ति का परसाईजी ने अपनी कहानी 'वैष्णव की फिसलन' में पर्दाफाश किया है। लोभ-लाभ में फंसा वैष्णव सेठ अपने वैष्णव धर्म को एक किनारे कर किस तरह शराब, गोश्त और औरत के नाजायज धंधे में फंस जाता है, इसका परसाईजी ने यथार्थ चित्रण करते हुए व्यापारी वर्ग की मुनाफाखोरी को उघाड़ा है। वे लिखते हैं कि, 'वैष्णव' के पास नम्बर दो का बहुत पैसा हो गया है। कई एजेंसियां ले रखी हैं। स्टाकिस्ट हैं। जब चाहे माल दबाकर 'ब्लैक' करने लगते हैं। - - - अब वैष्णव का होटल खूब चलने लगा है। शराब, गोश्त, कैबरे और औरत। वैष्णव धर्म बराबर निभ रहा है। मुनाफाखोरी पर प्रहार करने का परसाईजी का यह निराला अंदाज है जो धर्म और व्यापारी धर्म को भी अपनी चपेट में ले लेता है। मुनाफाखोरी व कालाबाजारी जिस तरह भारतीय व्यापारियों की बनिया-संस्कृति का अभिन्न अंग होकर अपने भयावह व विकराल रूप में समूचे देश में फैली, उसके प्रति परसाईजी जैसे प्रतिबद्ध रचनाकार का चिंतित होना स्वाभाविक ही है। इस कहानी में परसाईजीने वक्रोक्ति के सार्थक प्रयोगद्वारा मुनाफाखोरी की समस्या पर तीखा कटाक्ष किया है।

११.३ हनुमानजी अदालत में :

इस निबंध में परसाईजी वर्तमान पुलिस एवं न्यायव्यवस्था पर व्यंग्य करते हैं। वे यह उद्घाटित करते हैं कि हमारी पुलिस किस तरह निर्दोष और शक्तिशाली व्यक्ति को भी झूठे केस में फँसा देती है। अनुमान की योग्यता ही पुलिस की दृष्टि में अयोग्यता बन जाती है। उनकी न्यायप्रियता तथा सतर्कता से डरकर पुलिसवाले उन्हें सुकेसी का हार चुराने के जुर्म में गिफ़्तार कर लेते हैं। उन्हें अदालत में पेश किया जाता है। हनुमान अपने बचाव के लिए सीता से लेकर राजा राम तक का दरवाजा खटखटाते हैं लेकिन मामला न्यायालयाधीन होने के कारण कोई मदद नहीं मिलती। पुलिस झूठे गवाहों और सबूतों के आधार पर सुकेसी का हार चुराकर सुनैना वानरी को पहनाने का जुर्म उन पर सिद्ध कर देती है। हनुमान जैसे ब्रह्मचारी पर पुलिस सुनैना वानरी नामक प्रेमिका रखने का आरोप लगाती है, जिसे सुनकर वे आग बबूला हो उठते हैं। जब वे अदालत में अपनी शक्तियों का प्रयोग करने का प्रयास करते हैं तो वे शक्तियाँ काम नहीं करतीं। अंततः उन्हें अदालत तीन साल के कैद की सजा सुनाती है। यहाँ परसाईजी यह व्यंजित करते हैं कि पुलिस और अदालत मिलकर कितनीभी अच्छी साख और क्षमता वाले व्यक्ति को गुनहगार ठहरा सकते हैं। इस तरह के मुकदमे अब आम हो चले हैं। लेकिन यदि आपकी पहुँच सर्वोच्च पद पर बैठे राजनीतिक आका तक हो तो आप 'मर्सी पे टिसन' द्वारा बाइज्जत बरी भी हो सकते हैं। राम के निर्देश पर हनुमान की रिहाई इस बात का सबूत है।

इस तरह परसाईजी हमारी राजनीतिक व्यवस्था पुलिसिया तंत्र, तथा न्याय व्यवस्था को एक साथ अपने व्यंग्य का लक्ष्य बनाते हैं। आजाद भारत हो रामराज्य, दोनों में ही पिसता निर्दोष व्यक्ति ही है। परसाईजीने अपने धारदार व्यंग्यद्वारा पौराणिक प्रसंग को अत्याधिक रोचक बना दिया है।

११.४ साहब महत्वाकांक्षी :

परसाईजी का यह निबंध देश की दुर्दशा का राग अलापने वालों की अच्छी खबर लेता है। लेखक यह दिखलाता है कि किस तरह लोग बड़े-बड़े क्लबों में देश की दुर्दशा पर चर्चा करते हैं। ऐसे ही एक क्लब में परसाईजी की मुलाकात जिस सज्जन से होती है वे पहले एक सरकारी प्रतिष्ठान के मैनेजर थे। दो-तीन साल पहले उसे 'कंपलसरी रिटायमेंट' मिला गया। बड़े भ्रष्टाचारी को बाइज्जत अलग कर देने की विधि को 'कंपलसरी रिटायमेंट' कहते हैं। चपरासी या बाबू का भ्रष्टाचार पकड़ा जाए तो वह 'डिसमिस' होता है। जेल भी भेजा जा सकता है, क्योंकि वह सिर्फ दस-पाँच रुपये खाता है, मगर बड़ा अफसर जब दस-पाँच लाख दबा लेता है और सरकार इस पर ध्यान देने के लिए मजबूर हो जाती है, तब उससे हाथ जोड़कर कहती है, 'हुजूर, आशा है, आप अब तक काफी खा चुके हैं। अब अगर आप उचित समझें तो बाकी जिंदगी चैन से गुज़रें।' ऐसे ही सज्जन लेखक के समक्ष देश की दुर्दशा का चित्रण करते हैं। परसाईजी व्यंग्य करते हैं कि मैंने सुना, वह बहुत लोगों से मिलने लगा है और सबसे देश के नाजुक हालत की बात करता है। जो उसे जानते थे, वे कहते थे, या तो उसका दिमाग ख़राब हो गया है या देश के सचमुच बुरे दिन आ गए हैं।

लेखक के अनुसार एक दिन वे राजनीति में प्रवेश करते हैं। वे लेखक से मिलकर चुनाव लड़ने का इरादा ज़ाहिर करते हैं। लेखक उनसे कहता है कि आप 'पब्लिक लाइफ' में आए बिना ही कैसे चुनाव लड़ रहे हैं। इस पर वे जवाब देते हैं कि देश इस वक्त बड़ी जल्दी में है। वे बताते हैं कि पत्नी के कहने पर नेता बने हैं। जब लेखक प्रति प्रश्न करता है कि, "आपकी कोई सार्वजनिक सेवा नहीं है। बहुत लोक आपको नहीं जानते हैं। आप कैसे जीतने की उम्मीद करते हैं?" इस पर वे समझदारी भरा जवाब देते हैं - 'वह सब मैंने समझ लिया है। अपने देश का चुनाव तो एक नाटक है। हमारा गंवारों का देश है। सच पूछा जाये, तो हम प्रजातंत्र के लायक ही नहीं हैं। यहां वोट पाने के कई तरीके हैं। मैं सब जानता हूँ। सारा प्रबंध कर लिया है।' वह लेखक से प्रचार का जिम्मा संभालने का आग्रह करता है। लेखक उक्त दायित्व का ठीक से निर्वाह नहीं कर पाता है। वह पर्चे पर 'जनता के जाने-माने सेवक' की जगह 'जनता के जाने-माने भ्रष्टाचारी' छपवा देता है। फलतः चुनाव में उनकी जमानत जब्त हो जाती है। लेखक ने इस अध्याय में सार्वजनिक जीवन में आई गिरावट के साथ-साथ अनुचित तरीके से राजनीति में प्रवेश करनेवालों की खोज-खबर ली है। अपने जीवन में भ्रष्टाचार के प्रतिमान बनाने वाले किस तरह भारतीय लोकतंत्र का मज़ाक बना रहे हैं तथा देश की दुर्दशा के नाम पर जनता को ठगना चाहते हैं, परसाईजी ने इस प्रवृत्ति पर बड़ा ही सटीक व्यंग्य किया है।

११.५ निंदा-रस :

निंदा रस परसाईजी का अत्यंत चर्चित व्यंग्य लेख है। इसमें दूसरों की निंदा करनेवालों का परसाईजी ने जमकर मखौल उड़ाया है। लेखक कहता है कि निंदक बड़े ही मिथ्यावादी होते हैं। वे अभिनय कला में निष्णात होते हैं। लेखक 'क' नामक निंदक की विशेषताओं का बड़ी तल्लीनता से वर्णन करता है। वह लिखता है कि, 'कुछ लोग बड़े ही निर्दोष मिथ्यावादी होते हैं; वे आदतन प्रकृति के वशीभूत झूठ बोलते हैं। उनके मुख से निष्प्रयास, निष्प्रयोजन झूठ ही निकलता है। मेरे एक रिश्तेदार ऐसे हैं। वे अगर मुंबई जा रहे हैं और उनसे पूछें तो वे यह कहेंगे, 'कल बड़ा जा रहा हूं।' ठीक बात उनके मुंह से निकल ही नहीं सकती। 'क' भी बड़ा निर्दोष, सहज-स्वाभाविक मिथ्यावादी है।' लेखक के अनुसार निंदकों के पास दोषों का 'कैटलॉग' होता है। परसाईजी भी निंदा रस में शरीक होते हुए एक-एक करके अपने विरोधियों का नाम लेते हैं और 'क' नामक निंदक उनके सारे विरोधियों को निंदा की तलवार से काट डालता है। लेखक को वह निंदक भेद-नाशक अँधेरे की तरह प्रतीत होता है। उसके विदा होने पर लेखक के मन में कुछ वैसी ही तुष्टि होती है जैसी चर्च से निकलते हुए धार्मिक ईसाई के मन में होती है। लेखक निंदकों की महिमा का बखान करते हुए लिखता है कि, 'दो-चार निंदकों को एक जगह बैठकर निंदा में निमग्न देखिए और तुलना कीजिए दो-चार ईश्वर-भक्तों से, जो रामधुन लगा रहे हैं। निंदकों की सी एकाग्रता, परस्पर आत्मीयता, निमग्नता भक्तों में दुर्लभ है। इसलिए संतों ने निंदकों को 'आंगन कुटी छवाय' पास रखने की सलाह दी है।'

इस क्रम में परसाईजी मिशनरी निंदकों का वैशिष्ट्य भी उजागर करते हैं। ऐसे निंदक चौबीसों घंटे निंदा-कर्म में बहुत पवित्र-भाव से लगे रहते हैं। उनकी निर्लिप्तता और निष्पक्षता का कोई सानी नहीं। वे अपने बाप की पगड़ी भी उसी आनंद से उछलते हैं, जिस आनंद से अन्य लोग दुश्मन की। ऐसे निंदक ईर्ष्या-द्वेष से प्रेरित निंदक से ज़्यादा सुखी होते हैं। लेखक के अनुसार ईर्ष्या-द्वेष से पीड़ित निंदक आत्मपीड़न का शिकार होता है। परसाईजी के ही शब्दों में, आप चैन से सोइए और वह जलन के कारण सो नहीं पाता। उसे और क्या दंड चाहिए? निरंतर अच्छे काम करने से उसका दंड भी सख्त होता जाता है। जैसे एक कवि ने एक अच्छी कविता रच दी, तो उसका कष्ट दुगुना हो जाएगा। लेखक के अनुसार निंदा अपनी हीनता, कमजोरी तथा अकर्मण्यता के चलते पैदा होती है। लेखक के अनुसार, "कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हममें जो करने की क्षमता नहीं है, वह यदि कोई करता है, तो हमारे पिलपिले अहं को धक्का लगता है, हममें हीनता और ग्लानी आती है। तब हम उसकी निंदा करके संतुष्ट होते हैं। लेखक अब तटस्थ भाव से सोचता है कि वह भी 'क' के साथ निंदा के काला सागर में डूबता उतराता कलोल कर रहा था। बड़ा रस है निंदा में। वह सूरदास के 'निंदा सबद रसाल' को उद्धृत करते हुए अपना व्यंग्य लेख पूर्ण करता है।"

११.६ बेईमानी की परत :

यह परसाईजी का अतिशय महत्त्वपूर्ण व्यंग्य लेख है। इसमें मोटापे को लेकर मध्यवर्गीय मनोवृत्ति पर कटाक्ष किया गया है। लेखक ने इसमें आत्मव्यंग्यात्मक शैली का सफल प्रयोग किया है। लेखक इस लेख के आरंभ से ही आक्रमक व्यंग्य का प्रयोग करता है। वह लिखता है कि, "ठंड शुरू होने पर मैंने गर्म शेरवानी निकालकर पहनी तो देखा कि बटनें नहीं लगती।"

पिताजी जब मेरे कपड़े सिलाने देते थे, तो दर्जी से कह देते थे- ज़रा बढ़ते शरीर का बनाना। जब से अपने कपड़े बनवाने का जिम्मा खुद लिया है, हर बार दर्जी से कहना चाहता हूँ- ज़रा घटते शरीर का बनाना।” परसाईजी इस तथ्य का रहस्योद्घाटन करते हुए लिखते हैं कि, ‘शरीर जब तक दूसरों पर लड़ा है, तब तक गुटाता है।’ जब अपने ही ऊपर चढ़ जाता है, तब दुबलाने लगता है। जिन्हें मोटे रहना है, वे दूसरों पर लदे रहने का सुभीता कर लेते हैं – नेता जनता पर लदता है, साधु भक्तों पर, आचार्य महत्त्वाकांक्षी छात्रों पर और बड़ा साहब जूनियरों पर।’ इस तरह लेखक मोटापे का बड़ा अद्भुत रहस्य बतलाता है।

लेखक इसी क्रम में रेलवे प्लेटफॉर्म पर वजन तौलने वाली मशीन पर भी व्यंग्य करता है जो दस पैसा डालते ही वजन बताने के साथ-साथ तारीफ़ का एक वाक्य भी बोल देती हैं। परसाईजी स्वयं अपनी पुस्तके पुरस्कार हेतु नहीं भेजते और समीक्षकों की चापलूसी भी नहीं करते। उनके अनुसार ‘जमाने में वजन से ज़्यादा उसके रिकार्ड का महत्त्व है। इसीलिए चतुर लोग दुसरे की गोद में बैठकर अपने को तुलवा लेते हैं और बड़े वज़न का टिकट जेब में रखे रहते हैं।’ लेखक कहता है कि धीरे-धीरे उसके मोटे होने की खबर चारों तरफ फैल जाती है और लोग उसके पास आकर मोटे होने का कारण पुछने लगते हैं। लेखक जवाब में कहता है कि, ‘स्वास्थ्य का खयाल रखता हूँ। वह जो स्वामी शिवानंद की किताब है न, उसी के मुताबिक चल रहा हूँ। उसमें लिखा है कि समय पर भोजन करना चाहिए, सूर्यास्त के बाद चाय नहीं पीनी चाहिए, अधिक रात तक नहीं जगना चाहिए, मिर्च मसाले नहीं खाने चाहिए, मन में बुरे विचारों को नहीं आने देना चाहिए।’ परसाईजी के इस स्पष्टीकरण का कोई लाभ नहीं हुआ। लोगों ने इसे मजाक ही समझा। लेखक की दृष्टि में आजाद भारत में मोटे होने वालों ने ऐसी परंपरा विकसित की है कि ईमानदार को मोटा होने से डर लगता है। लेखक वस्तुस्थिति की विडंबना को उजागर करने के लिए अपने एक मित्र के कथन को उद्धृत करता है। वह लिखता है कि, “जिनकी तोंदे इन सत्रह सालों में बढ़ी हैं जिनके चेहरे सुर्ख हुए हैं, जिनके शरीर पर मांस आया है, जिनकी चर्बी बढ़ी है – उनके भोजन का एक प्रयोगशाला में विश्लेषण करने पर पता चला है, कि वे अनाज नहीं खाते थे; चंदा, घूस, काला पैसा, दुसरे की मेहनत का पैसा या पराया दान खाते थे। इसी लिए जब कोई मोटा होता दिखता है, तो सवाल उठते हैं। कौई विश्वास नहीं करता कि आदमी अपनी मेहनत से ईमान का पैसा कमा कर भी मोटा हो सकता है।” इस तरह लेखक स्वाधीन भारत में जो भ्रष्टाचार की संस्कृति विकसित हुई है उसे उधाड़कर रख देता है। मोटापा बेईमानी की परत है, ऐसा कहकर वह व्यंग्य के माध्यम से एक विचार का प्रवर्तन कर देता है।

११.७ घायल वसंत

इस निबंध का आरंभ ललित निबंध की शैली में हुआ है लेकिन परसाईजी का व्यंग्यकार अपनी वास्तविक भूमिका में शीघ्र ही आ गया है। लेखक ऐसे कवियों की वसंत के बहाने अच्छी खबर लेता है जिनकी कविता केवल तुकबंदी पर आश्रित होती है। वह कहता है कि, तुक की गुलामी करोगे तो आरंभ चाहे वसंत से कर लो, अंत जरूर हा हंत से होगा। सिर्फ कवि ऐसा नहीं करता और लोग भी, सयाने लोग भी, इस चक्कर में होते हैं। लेखक समाजवादी सरकार के वित्तमंत्री का भी उदाहरण देता है, जिन्होंने सोना दबाने वालों से देश के लिए सोना दान करने की अपील की थी परन्तु उनके आग्रह के बाद सोना चार हाथ और नीचे चला गया। अतः लेखक जीवन में बेतुका चलने की अपील करता है। लेखक ऋतुराज वसंत के बरक्स

जिस दुकान से उधार लेता है उसके नौकर वसंतलाल को रखता है। वसंतलाल तड़के लेखक के घर उधारी वसूल करने के लिए आता है जिससे लेखक का मुहूर्त बिगड़ जाता है। फलतः जब वास्तविक ऋतुराज वसंत आता है तब उसे लगता है कि उधारी के तगादे वाला आया है। लेखक अपने स्वभाव के अनुसार वसंत से भी शरारत करता है, 'जाते जाते एक छोटा सा काम मेरा करते जाना। सुना है, तुम अबड़-खाबड़ चेहरों को चिकना कर देते हो; फेसलिफ्टिंग के अच्छे कारीगर हो तुम। तो ज़रा यार, मेरी सीढ़ी ठीक करते जाना, उखड़ गयी है।' इस तरह लेखक की व्यंग्यदृष्टि सुंदरियों का चेहरा सुधारने वाले वसंत को भी नहीं छोड़ती। उसकी यथार्थ दृष्टि को कूकती कोयल के बजाय कांव-कांव करता कौवा ही नजर आता है। लेखक परंपरा पर दृष्टिपात करके विरहिणी नायिका की नज़र में कौए की महंता प्रतिपादित करता है। साथ ही व्यंग्य करने से भी नहीं चूकता। वह लिखता है कि, 'वह बड़ी गलत परंपरा है, जिसमें हंस और मोर की चोंच तो नंगी रहे, पर कौए की चोंच पर सुंदरी खुद सोना मढ़े।' नायिका चुप हो जाएगी। स्वर्ण-नियंत्रण कानून से सबसे ज़्यादा नुकसान कौओं और विरहिणियों का हुआ है। अगर कौए ने चौदह कैरेट के सोने से चोंच मढ़ाना स्वीकार नहीं किया, तो विरहिणी को प्रिय के आगमन की सूचना कौन देगा ?

परसाईजी वसंत के बहाने हिमालय के उस पार से आने वाली बर्फीली हवाओं अर्थात् चीनी आक्रमण को भी याद करते हैं। वे चीन की आक्रमक नीति को भखौल उड़ाते हुए कहते हैं कि, 'यह उत्तर से बर्फीली हवा आ रही है। हिमालय के उस पार से आकर इस बर्फीली हवा में हमारे वसंत का गला दबा दिया। हिमालय के पार बहुत सा बर्फ बनाया जा रहा है जिसमें सारी मनुष्य जाति को मछली की तरह जमा कर रखा जाएगा। यह बड़ी भारी साज़िश है – बर्फ की साज़िश। इसी बर्फ की हवा ने हमारे आते वसंत को दबा रखा है।' इस तरह परसाईजी वसंत के ब्याज से चीनी आक्रमण के दुष्टप्रभाव का भी चित्रण कर देते हैं। पाठकों से यही अपेक्षा रहती है कि वे परसाईजी के व्यंग्य में निहित सामाजिक, राजनीतिक संकेतों का संधान कर सकें और उन स्थितियों पर विचार करें जिनपर व्यंग्य किया गया है। परसाईजी के व्यंग्य सरस और चुटीली शैली में प्रयुक्त हथियार की तरह हैं जो चोट तो करते हैं मगर पूरी शालीनता के साथ। यहाँ व्यंग्य विसंगतियों से लड़ने वाले शक्तिशाली शस्त्र की तरह है जो हिन्दी साहित्य में काफी चर्चित और महत्वपूर्ण है।

निष्कर्ष :

हरिशंकर परसाई ने स्वातंत्र्योत्तर भारत के सामाजिक जीवन के सभी पक्षों को अपने व्यंग्यात्मक प्रत्याख्यान का विषय बनाया है और समाज के विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त अन्याय, अनौचित्य, कदाचार, वैषम्य और शोषण पर तीव्र कुठाराघात किए। इनके व्यंग्यसाहित्य का अधिकांश राजनीतिक जीवन की विसंगतियों एवं विकृतियों से संबंधित है। वे अपने युग के राजनीतिक यथार्थ की बहुत गहरी समझ तथा निकट पहचान लेकर हमारे सामने आते हैं। पूंजीवादी उत्पादन संबंधों पर आधारित देश की अन्याय एवं वैषम्यपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था के प्रति उनमें गहरा आक्रोश है और अपने युग के राजनीतिक जीवन की विसंगतियों को उन्होंने व्यापक स्तर पर अपने व्यंग्य-प्रहारों का लक्ष्य बनाया है। राजनीतिक दलों की सिद्धांतहीन एवं स्वार्थपूर्ण राजनीतिक, राजनीतिज्ञों के दोहरे एवं जनविरोधी चरित्र, प्रशासन तंत्र की जन विमुखता एवं क्रूरता, चुनावी भ्रष्टाचार, पक्षपातपूर्ण न्यायव्यवस्था, भाई-भतीजावाद, शासक वर्ग

की दमनकारी नीतियों और इन सबके चलते स्वतंत्रता की निरर्थकता पर उन्होंने विभिन्न कोणों से आक्रामक व्यंग्य-प्रहार किए हैं, जिसकी सामाजिक मूल्यवत्ता बहुत ज्यादा है।

परसाईजी सामाजिक परिवर्तन के चिर आकांक्षी एक मार्क्सवादी रचनाकार है जिनका साहित्य मनुष्य की स्वतंत्रता के विस्तार और समाज को बेहतर बनाने का उद्यम करता है। उनका राजनीतिक व्यंग्य मानव स्वतंत्रता के विरोधियों तथा जनद्रोही शक्तियों और प्रत्यक्षात उनकी सहायता करनेवालों को लक्ष्य करके लिखा गया है और उनकी गहरी, सामाजिक चिंताओं एवं सरोकारों की उपज है। मौजूदा सामाजिक सोददेश्यता के तहत किया है और उसका सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष उसके वर्गीय युगीन आधार का उद्घाटन है। परसाई जी का राजनीतिक दृष्टि पैनी और साफ है और उनका राजनीतिक व्यंग्य उन्हें सही अर्थों में एक प्रतिबद्ध और जनवादी रचनाकार सिद्ध करता है और इसी को उभारने का प्रयास प्रस्तुत प्रबंध में हुआ है।

एक प्रगतिकामी और जनवादी रचनाकार होने के नाते परसाई जी उन सभी स्थितियों, विश्वासों, रवैयों और कार्यों की तीव्र भर्त्सना करते हैं। जो समाज की सहज स्वस्थ प्रगति में बाधक है और मानवद्वारा मानव के शोषण और दमन की प्रक्रिया को जारी रखने अथवा बढ़ाने का काम करते हैं। हिंदी साहित्य में वे नव मानववाद के प्रतिष्ठापरक हैं। मानवीय अस्तित्व में उनकी गहन आस्था है। शोषित एवं पीड़ित मानवता की पक्षधरता उनके व्यंग्य को तीखी धार ही नहीं देती बल्कि सामाजिक परिवर्तन के एक उपयोगी, अस्त्र के रूप में उसकी प्रतिष्ठा भी करती है। समाज का शायद ही ऐसा कोई पक्ष है। जिसकी विसंगतियों एवं विषमताओं को उन्होंने अपने तीक्ष्ण व्यंग्य-प्रहारों का विषय नहीं बनाया। सामाजिक अन्याय, असमानता रुढ़िवाद, जाति-पाति एवं वर्ग भेद नारी शोषण, विवाह-संस्था, शिक्षाव्यवस्था, धार्मिक कट्टरता, साम्प्रदायिकता, ढोंग, पाखण्ड, छल व प्रपंच सभी पर परसाई जी ने अपना व्यंग्यास्त्र साधा है। सामंती-पूंजीवादी मूल्य व्यवस्था और पूंजीवादी, शोषण दोनों उनके आक्रोश का शिकार बने हैं। यह आक्रोश कभी तीखी कटूक्तियों और तीक्ष्ण व्यंग्य तो कभी वक्रोक्ति और उपहास के रूपमें अभिव्यक्त हुआ है। समाजनीति एवं समाजव्यवस्था पर जैसा प्रखर और सशक्त व्यंग्य परसाई जी ने किया है। वैसा कबीर के बाद पूरे हिंदी साहित्य में नागार्जुन को छोड़कर अन्यत्र देखने में नहीं आता। परसाई जी प्रखर व्यंग्य-चेतना को सामाजिक प्रतिबद्धता से सम्पृक्त कर सामाजिक आंदोलन की भूमिका तैयार करते हैं। जिसका एकांत लक्ष्य सुखी, सुंदर व शोषणमुक्त, समतावादी, समाज का निर्माण है। वे केवल विध्वजात्मकता के ही विशेषज्ञ नहीं हैं। बल्कि एक रचनात्मक सृजनकर्ता भी हैं। उनके सामाजिक व्यंग्य की प्रमुख विशेषता यह है कि वह अनुचित और अमंगल पर चोट करते ही नहीं रह जाता, उचित और काम्य की ओर संकेत भी करता है। सामाजिक यथार्थ पर उनकी गहरी पकड़ तथा मानव भविष्य में गहरी आस्था परसाई जी के व्यंग्य को मात्र ध्वंस का अस्त्र ही नहीं, नवनिर्माण का औजार भी बनाती है। व्यंग्य की आक्रामक प्रहार धर्मिता के पीछे लोकमंगल व लोककल्याण की भावना परसाई जी को कबीर के समकक्ष का खड़ा करती है। उनका सामाजिक व्यंग्य इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि वे आधुनिक युग के कबीर हैं, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए ही परसाई जी के सामाजिक व्यंग्य के मूल्यांकन का यहाँ प्रयास किया गया है।

परसाई जी के अर्थतंत्र संबंधी व्यंग्य का उद्देश्य पूंजीवादी साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था में अन्याय, शोषण, उत्पीड़न आर्थिक वैषम्य और अमानवीयता के विभिन्न स्वरूपों का विभिन्न स्तरों

पर विविध संदर्भों में उधाड़कर उनपर प्रहार करना है। आर्थिक संबंधों व नीतियों का गहन विश्लेषण और आर्थिक संबंधों व नीतियों का गहन विश्लेषण और आर्थिक यथार्थ की गहरी पहचान उनके आर्थिक व्यंग्य की प्रमुख विशेषताएं हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारत की जर्जर एवं खोखली अर्थव्यवस्था और आर्थिक बदहाली की स्थिति का यथार्थ चित्रण करते हुए उन्होंने इसके लिए न केवल ब्रिटिश साम्राज्यवाद और देशी पूंजीवाद और अमेरिकी साम्राज्यवाद के क्रूर शोषण चक्र का पर्दाफाश किया है। समाज में व्याप्त अन्याय और शोषण तथा सामान्य जनता की अमानवीय स्थिति के लिए उन्होंने देश की पूंजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था को दोषी ठहराया है और उनका अधिकांश व्यंग्य आर्थिक वैषम्य और तज्जनित विसंगतियों एवं विकृतियों को लेकर ही है जिसके विवेचन का प्रयास परसाई जी की प्रखर वर्ग चेतना और वर्गीय पक्षधरता को समझने के लिए किया गया है।

अपनी रचनाओं में परसाईजी ने शासक वर्ग को जमींदार-पूंजीपति वर्ग का पिटटू सिद्ध करते हुए, शासक वर्ग की जमींदारों व पूंजीपतियों के आर्थिक हितों को साधनेवाली गलत आर्थिक नीतियों की बखिया उधेरी है। परसाईजी की विशेषता यह है कि उन्होंने अमेरिकी साम्राज्यवाद और उसके दृढ़भय्ये देशी पूंजीवाद के हाथों में खेलने वाले शासक वर्ग के राजनीतिक दावपेंचों को आर्थिक कारणों से अलग करके नहीं देखा है। इसलिए उनकी रचनाओं में भारतीय अर्थव्यवस्था व अर्थनीति अपनी समस्त विकृतियों एवं विरूपताओं के साथ प्रामाणिक और विश्वसनीय रूपमें आर्थिक तथा वर्गीय आधार पर विशेष ध्यान देते हैं और सभी सामाजिक राजनीतिक व सांस्कृतिक समस्याओं की जड़े आर्थिक ढाँचे में मानते हैं। उनका अर्थव्यवस्था एवं अर्थनीति संबंधी समस्त व्यंग्य समाज के शोषित एवं दलित वर्ग के प्रति उनकी सहानुभूति व पक्षधरता की उपज है और इसीलिए शोषणपूर्ण पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था पर उनकी मार अत्यंत आक्रामक, पैनी और विध्वंसात्मक है तथा उसे वे सामूल नष्ट कर देना चाहते हैं। वैषम्यपूर्ण अर्थव्यवस्था और विसंगत अर्थनीति को काटने के लिए व्यंग्य का जैसा कुशल प्रयोग परसाईजी ने किया है वैसा पूरे हिंदी गद्य साहित्य में अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। परसाई जी की व्यंग्य-दृष्टि और वर्ग चेतना दोनों अत्यंत प्रखर हैं, इसी को सिद्ध करने का प्रयास हमने किया है।

विदेशी दासता तथा पूंजीवाद के प्रसार से उत्पन्न सांस्कृतिक विडंबनाओं को भी उन्होंने अपने व्यंग्य की धार से पतदरपत उघाड़ा है। परसाईजी के संस्कृति संबंधी व्यंग्य की विशेषताएं यह है कि उन्होंने समग्र संस्कृति एवं सांस्कृतिक नीतियों को समाज के वर्गीय एवं आर्थिक आधार से अलग करके नहीं देखा है। वैषम्यपूर्ण आर्थिक संबंधों पर आधारित पूंजीवादी व्यवस्था किस तरह, अपने अनुरूप एक ऐसी सांस्कृतिक साहित्यिक व्यवस्था का निर्माण करती है। जो समाज में मूल्यहीनता और अमानवीकरण पैदाकर शोषक-शासक वर्ग के हितों को साधती है, परसाई जी ने अपनी प्रखर एवं सूक्ष्म वर्गीय व्यंग्य-दृष्टि से इस नजर छुपे यथार्थ को बारीकी से पकड़ते हुए सांस्कृतिक छल के पूंजीवादी हथकंडे पर जो आक्रामक प्रहार किए हैं वैसे पूरे हिन्दी साहित्य में निराला को छोड़कर अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलते। देश के सांस्कृतिक अवमूल्यन पर अपनी गहरी चिंताएं व्यक्त करते हुए उन्होंने जहाँ इसके लिए भारतीय संस्कृति की संकीर्णताओं को दोषी ठहराया है वहाँ इसके पीछे साम्राज्यवादी एवं पूंजीवादी ताकतों की देश को सांस्कृतिक तौर पर गुलाम बनाए रखने की शीतयुद्ध की नीति के गहरे षडयंत्र का भी पर्दाफाश किया है। परसाईजी के संस्कृति संबंधी व्यंग्य की खास बात यह है कि वह पूंजीवादी संस्कृति को नष्ट ही नहीं करता बल्कि इससे आगे समाजवादी, जन-संस्कृति का प्रचार भी

करता है। उनका व्यंग्य इस सच्चाई का उघाड़ने में अत्यंत सफल हुआ है कि हम अभी तक मानसिक व सांस्कृतिक तौर पर उघाड़ने में अत्यंत सफल हुआ है कि हम अभी तक मानसिक व सांस्कृतिक तौर पर अंग्रेजों के गुलाम बने हुए हैं, और यह भी कि वैषम्यपूर्ण व्यवस्था में शोषक शासक वर्ग की नीति ऐसे समस्त स्वस्था जीवंत एवं जीवनोपयोगी सांस्कृतिक एवं साहित्यिक मूल्यों को नष्ट करने की होती है जो जनवादी चेतना को सुदृढ़ कर सामाजिक परिवर्तन की भूमिका तैयार करने में योगदान देते हैं और जनवादी मूल्यों व जनसंस्कृति की स्थापना करना चाहते हों। अपने समय के साहित्यिक परिदृश्यको भी परसाई जीने व्यंग्यात्मक प्रत्याख्यान का विषय बनाया है। साहित्य जगत विशेषकर हिंदी साहित्य जगत की विकृतियों और छद्मको उन्होंने निकट से देखा है और भोगा है। इनके साहित्य संबंधी व्यंग्य इसलिए तीखे और मारक बन पड़े हैं। साहित्याचार्यों की रुढ़ परंपरावादिता नये वैचारिक दृष्टिकोण एवं प्रयोगों के प्रति आलोचकों के उपेक्षा भाव छद्म लेखन, साहित्यकारों की आत्मलीनता बुद्धिजीवियों की तटस्तथा एवं निष्क्रियता कला के प्रति व्यवसायिक दृष्टिकोण आदि अस्वस्थ प्रतिगामी साहित्यिक प्रवृत्तियों पर परसाई जी ने जमकर प्रहार किया है। उनके साहित्य संबंधी व्यंग्य में कटुता और आक्षेपात्मकता है, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता। लेकिन इसके मूल में हताशा और कुंठा नहीं, सामाजिक और साहित्यिक चिंताएं सक्रिय रही हैं। उनका संस्कृति एवं साहित्य संबंधी व्यंग्य देश व समाज को सांस्कृतिक व साहित्यिक मूल्य हीनता के मौजूदा पूंजीवादी संकट से उबारने और जन संस्कृति की स्थापना करने की उनकी सामाजिक चिंताओं की उपज है। यही सिद्ध करने का प्रयास यहाँ हुआ है। वस्तुतः परसाईजी का व्यंग्य साहित्य उनके जनवादी व्यक्तित्व का ही विस्तार है जोर उनकी गहरी सामाजिक प्रतिबद्धताओं का साक्ष्य प्रस्तुत करता है।



कहानी संग्रह

१. 'उसने कहा था' तथा 'गुण्डा'

बीसवीं शताब्दी की शुरुआत हिन्दी कहानी विधा के प्रस्थान का मूल उत्स है। बीसवीं शताब्दी साहित्य में कहानी विधा से जानी जायेगी। प्रारंभिक दौर की कहानियाँ भावनात्मक संबंधों की है, जो मानवीय मूल्य के पुनर्निर्माण की और इंगित करती है। इन्ही श्रेष्ठ कहानियों में 'सरस्वती' में १९१५ में प्रकाशित श्री चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की 'उसने कहा था' है, जो आज भी जीवन्त है तथा पाठकों की मनः स्मृति में हमेशा - हमेशा को अधीष्ठित है। यह हिन्दी की 'कालजयी' कहानी है जिसे हर बालक, हर युवा, हर कोई कण्ठस्थ किये है।

गुलेरी जी की 'उसने कहा था' कहानी की शुरुवात अमृतसर के बम्बूकार्ट के बाजार से होती है। प्रारंभ का पैरा पंजाबी मिश्रित हिन्दी खड़ी बोली का है, पर कोई भी पाठक कह दे कि वह इन शब्दों के अर्थ नहीं जानता, दरसल भाषा अपने अर्थ स्वयं खोलना प्रारंभ कर देती है, कथानक की गति से सारे अवरोध पराजित हो जाते है तभी तो करमावलिये 'जीर्णजोगिये' तथा 'पुता प्यारिये' के अर्थ का पंजाबी से दूर - दूर तक जिसका नाता नहीं है वह भी सहजता से समझ जाता है। कथानक को जिस शिल्पकार ने तराशा है और जो साधन प्राप्त किये है वह ऐसा विशिष्ट है कि अद्वितीय 'कथा -मूर्ति' निर्मित हो पड़ती है। यह कहानी यथार्थता, कल्पना भावनात्मकता, के शिल्पगत छेनी हथौड़े से निर्मित है। तभी तो हिन्दी की श्रेष्ठ प्रेमाभिव्यक्ति की कथा अनायास ही 'उसने कहा था' पाठकों के मुखारबिन्द से निकल पड़ती है। यह वैसा ही है जब कि हिन्दी की प्रामाणिक फिल्मों में लोग ' तीसरी कसम' को स्वीकार करते है।

'उसने कहा था' प्रेम और त्याग की वह मिसाल है जो सिर्फ सुनने में आता है, आठ वर्ष की बालिका के बाल - सुभल प्रेम में वह बालक कितना कुछ कर जाता है लहना सिंह से 'ढाई आखर प्रेम का' पढ़कर पंडित हो गया वह प्रेम का ज्ञानी हो गया-

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जिन्होंने गहन मंथन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि यह कहानी विशुद्ध प्रेम पर तथा निःस्वार्थ जीवन पर आधारित है उनका विचार है-

“यह कहानी ऐसी है जैसे बराबर हुआ करती है इसमें एक प्रेमी का प्रेमदग्ध हृदय झांक रहा है, निर्लज्जता के साथ पुकार या कराह नहीं रहा है।”

आचार्य शुक्ल की यह टिप्पणी विचार व स्वागत योग्य है और आज के संन्दर्भ में जहाँ कुल्लिसतस्वार्थ ही प्रेम का प्रतीक बन गया है। यह अमृत सर के बम्बकाट बाजार की कहानी है, यह कहानी वहीं और वंड़ियों की खरीददारी से शुरु होती है, दैनिक चर्चा की दास्तान है, रोजमर्रा की आपाधापी का और सहज बालपन का चित्रण है। जहाँ तांगेवालों के जीवन संघर्ष, हास- परिहास, बोलचाल के लहजे कर्ण पुटों पर सुनाई पड़ते हों वहाँ से यह कथा है। लगता है खूब चिन्तन - मनन के बीच कहानीकार के अन्तर्मन की आर्तनाद है। प्रथम विश्वयुद्ध के बीच प्रेम की यह अभिव्यंजना ऐसी है जैसे दही को बिलोयकर नवनीत निकाला हो या फिर कहानी को ऐसे पथा गया है कि समुद्र - मंथन के बाद कोई कौस्तुभ मणी निकलकर आयी हो जिसकी आभा से पाठकों का मनोमस्तिक प्रकाशवान हो उठा हो। आलोचक अपने समय से २० वर्ष बाद की कहानी मानते हैं पर यह तो आज १०० वर्षों की और पहुँच रही है (चार वर्ष शेष) है, दिलो दिमाग पर वैसी ही बैठी है जैसे १९१५ के समय थी। विचार करें तो, आज इस बीच कितना कुछ बदल गया, जलियावाला बाग हत्याकांड, भगतसिंह को फांसी, देश की आजादी, अंग्रेजों का भारत त्याग, गांधी नेहरु की मृत्यु आपातकाल, इंदिरा की मृत्यु भारत पाक युद्ध, बीसवीं सदी का अंह इस इक्कीसवीं सदी में एक ही कहानी पाठकों को के अवचेतन पर बनी है- 'उसने कहा था।'

साहित्य का उद्देश्य है आनंद प्रदान करना और वह आनंद 'उसने कहा था' कहानी पाठकों को भरपूर प्रदान करती है आचार्य शुक्ल के शब्दों में " जिस प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है।" रस मीमांसा आचार्य शुक्ल पृ. ८३ कहानी पढ़कर इस उदक होता है. और बालकों से लेकर युवाओतंक तथा प्रौढ़ से लेकर वृद्धों तक यह कहानी अनिर्वचनीय आनंद उत्पन्न करती है। ज्यों - ज्यों समय बीतता जा रहा है इस कहानी के सौन्दर्य के नए - नए आयाम उद्घाटित होते जा रहे हैं।

कथावस्तु के नामकरण के सम्बन्ध में हर पाठक को कहानी पढ़ते हुए यह जिज्ञासा रहती है कि, उसने कहा था, का सम्बन्ध किससे है? किसने कहा था? ये सारे प्रश्न पाठकों के मन में कई बार उठा करते हैं। प्रश्नों के समाधान तथा उत्सुकता में एक बार कहानी को पढ़ना प्रारंभ करने के पश्चात वह कहानी को बीच में ही अधूरी नहीं छोड़ता। पूरी करके ही उठता है। यह बातें आगे प्रेमचंद की कहानियों में भी मिलती हैं।

गुलेरी जी ने अपनी समूची लेखकीय जीवन शक्ति इसकी कथा बुनने में लगा दी है। भावनाओं का चरम उत्कर्ष इसमें प्रमाणित है। इस कहानीयों को आगे बढ़ाते हुए चन्दधर शर्मा गुलेरी जी हमें एक ऐसे वातावरण ओर की ले जाते हैं जो अकल्पनीय है - युद्ध क्षेत्र में भी ऐसा प्रशांत वातावरण। मन पूरी तरह उस चाँदनी में नहाने को डूबना चाहता है - "लड़ाई के समय चाँद निकल आया था, ऐसा चाँद जिसके प्रकाश से संस्कृत कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है और हवा ऐसी चल रही थी जैसा कि बाणभट्ट की भाषा में, दन्तवीणो पदेशाचार्य कहलाती है।

यह कहानी नाटकीय विधान का आक्षय धारण किये है। डॉ.बच्चन सिंह की मान्यता उपयुक्त बैठती है - "पाँच खण्डों में बटी यह कहानी, एक कथा - नाटक है। इसका प्रत्येक शब्द ध्यान से पढ़ने योग्य है। यदि कहानी का अंत युद्ध के बाद ही हों गया होता तो कहानी एक प्रेम कहानी बन कर रह जाती और उसमें एक उदात्त पारिवारिक मूल्य, जो आज के युग में विरल होता जा रहा है, न जुड़ पाता।"

रमेश उपाध्याय अपने आलेख में इस कहानी की चर्चा करते हुए कहते हैं कि उनके लिये, 'उसने कहा था' प्रमुख रूप में युद्ध की कहानी है, जिसमें प्रेम आटे में नमक जैसा ही है। यह सही है कि जिस तरह आटे में नमक का अपना महत्व होता है, उसी तरह इस कहानी में प्रेम का अपना महत्त्व है। प्रेम के कारण यह कहानी इतनी मार्मिक और प्रभावशाली बनी है। आलोचना अक्टूबर – सितंबर २००१ कहानी का पाठ, कहानी के निहितार्थ - रमेश उपाध्याय का लेख १९५० - १९५६।

कुल मिलाकर यह कथा प्रामाणिकता व जीवन्तता का एहसास कराती हुई पाठकों के अन्तर्मन में बस जाती है। गुलेरी जी ने कहानी के सभी तत्वों को दृष्टिगत करते हुए कथा का ऐसा ताना – बाना बना है कि यह नित्य प्रति नवीन प्रतीत होती है। यह कथा – प्रेम का पवित्र मंदिर है जहाँ पर आराध्य की भक्ति के लिए भक्त अपनी श्रद्धा के पुष्प अर्पित करता है।

प्रेम का विशुद्ध निदर्शन होने के साथ ही यह कथा पंजाब की माटी की सुगंध विखेरती है, वहाँ वह युद्ध - क्षेत्र में मातृभूमि (भारत) के लिए प्राण न्यौछावर करने वाले फौजियों की उत्सर्ग - गाथा है, कृषकों की जीवन रचना है, बालक बालिका के पावन अशरीरी प्रेम का प्रतीक है माँ-बेटों के प्यार की, पति- पत्नी के संबंधों की लाड़ी होरा मेम की अमरकथा है। माझे की लहना की बीरता है तो मंगरे की बालिका के हृदय में अंकुरित स्नेह का नन्हा पौधा है ?

गुलेरी जी की 'उसने कहा था' अपनी चरित, कल्पना और 'परिणति' दोनों में रोमांटिक होते हुए भी यर्थाथवादी परम्परा के सहज आरम्भ की तरह है। जिसे समय हिन्दी कहानी में रहस्य रोमांच तिलिस्म चमत्कार तथा संयोग आदि का वर्णन अपने चरम पर था, उस समय गुलेरी जी अपने अद्भुत कौशल द्वारा काल्पनिक वातावरण से कहानी को यर्थाथ की ओर ले आये। ऐसा नहीं है कि 'उसने कहा था' में संयोग तथा रोमांटिक दृष्टि आदि नहीं है, लेकिन उस सब का संयोजन इतनी कलात्मकता से किया गया है कि कहानी बिल्कुल समकालीन इसलिए हो जाती है क्योंकि प्रथम विश्वयुद्ध की विभिषिका उसकी पृष्टिभूमि में है। लहना सिंह का अन्तर्द्वन्द, अमृतसर के बाजार की लम्बी भूमिका, युद्धक्षेत्र का सक्षम वर्णन कहानी को यर्थाथ की ओर ले जाते हैं। पूरी कहानी जैसे किसी दृष्टा की रचना हो। वातावरण चरित्र और घटना को इस तरह संजोया गया है कि कहानी की मार्मिकता विस्मरणीय बन गई है। कहानी का मूलभाव प्रेम त्याग तथा बलिदान को अत्यधिक भाव प्रवण बना देता है। यही कारण है कि 'उसने कहा था' एक कालजयी रचना के रूप में स्थापित हो गयी है।

कथा की शुरुवात अमृतसर से होती है। यहाँ पर मांझे का १२ वर्ष का बालक लहनसिंह गुरुबाजार में मामा के यहाँ आया है और वह मामा के केश धोने के लिए दही लेने दुकान पर आता है। दुकान पर ही इसी मंगरे की आठ वर्ष की बालिका अपने मामा अतरसिंह के यहाँ आयी है। रसोई के लिए बड़ियाँ लेने आयी है। दोनों में परिचय होता है। सहज मानव स्वभाव के तरह दोनों में वार्तालाप होते हैं। सौदा लेकर दोनों में वार्तालाप होता है। सौदा लेकर दोनों साथ – साथ चलते हैं तो लड़का पूछ बैठता है – तेरी कुड़माई हो गई लड़की 'धूत' उत्तर और गई। कहानी बढ़ रही है और दोनों की बातें कई दिनों तक इसी क्रम में चलती हैं। संयोगवश दोनों का मिलना और लड़के का वही कुड़माई की बात कहना तथा लड़की द्वारा वही सुनना दोनों के बीच सहज हास – परिहास बन जाता है। लड़की नहीं जानती कि आने वाले दिन उनके लिए यह 'धूत' हाँ में बदलने वाले है। इसी बीच दोनों का मिलना निरंतर जारी है एक घटना हो

जाती है – तांगे वाले का घोड़ा दही वाले की दुकान पर बिगड़ जाता है। बालक लहना खुद घोड़े के लातों पर चला गया पर पहले लड़की को उठाकर दुकान के तख्ते पर खड़ा कर देता है। यहाँ बालिका को बचाना देव – विधान द्वारा आगे के दिनों में कथा के मर्मांतक पीड़ा को ओर संकेत करता है।

कहानी के बीच में पच्चीस वर्ष का गैप आता है। अब माझे का लहना सिंह न. ६६ राइफल्स में जमादार हो गया है, वह कन्या कहाँ है उसे इसका ज्ञान नहीं बस मनः पटल के किसी कोने में उसकी स्मृति सुरक्षित है।

उसी बीच फ्रांस और जर्मन के बीच युद्ध में फ्रांस की तरफ से (भारत) लहना सिंह जर्मन के खिलाफ युद्ध लड़ता है। खन्दकों में रहते – रहते वे ऊब गये है, बोधासिंह बीमार पड़ गया है। उसका पहरा खुद लहना देता है, गीले में रहकर बोधा को सूखे में रखता है। यहाँ तक कि वह अपने कपड़े भी पहना देता है। इसी बीच कोई 'जर्मन' लेपटन के वेश में आता है और लहनासिंह उसे पहचान कर उसकी जीवनलीला समाप्त कर देता है। लहनासिंह को एक गोली नकली लेपटन साहब द्वारा लहना की जांध में लगती है, तथा दूसरी गोली पसली में लगती है। और बोधा सिंह को बचाते हुए लहना सिंह की मृत्यु हो जाती है। बोधा सिंह उस कुड़माई वाली लड़की का पति है।

गुण्डा

जयशंकर प्रसाद जी की कहानियों की परिणति प्रायः आदर्शमूलक है। प्रसाद जी ने अपनी कहानियों में सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित कथानकों की योजना की है। प्रसाद जी की कथाओं में दो प्रकार की कथाओं का प्रयोग हुआ है – पहला लम्बी कथाएँ, जिनमें ऐतिहासिक एवं कल्पनिक संवेदनाओं का चित्रण हुआ है। दूसरा लघु कथाओं का है जो यथार्थ की पृष्ठभूमि पर मानवीय मनोभावों का अंकन करती है। लम्बी कथाओं में पूर्व कथासूत्र को पृष्ठभूमि में छिपाकर पुनः उस सूत्र को विकासावस्था पर पहुँचाकर उसकी आदर्शपयी अवधारणा पर परिणति की गयी है। लघु कथाओं की स्वाभाविकता या सामाजिकता सत्र सामयिकता समस्या को लेकर उसकी परिणति सामान्यतः यथार्थमूलक ही है।

प्रसाद जी व्यक्तिमूलक विचारधारा के जनक है। उनके काव्य के अनुरूप ही उनकी कहानियाँ सौन्दर्य, प्रेम, आदर्श की कहानियाँ है। व्यक्तिवादी विचारों के समर्थक होते हुए भी प्रसाद जी अतिवैयक्तिक मूल्यों को स्वीकार नहीं करते बल्कि वैयक्तिक व समष्टिगत मूल्यों के संघर्ष में वैयक्तिक मूल्यों को समष्टिगत मूल्यों पर न्यौछावर कर दिये है। कहीं – कहीं 'प्रसाद जी' भी धार्मिक रुढ़ियों व ढकोसलों का विरोध कर समष्टिगत मूल्य से जुड़ गये है। वैयक्तिक मूल्यों के महत्त्व मिलने के परिणामस्वरूप वैयक्तिक स्वतंत्रता तथा दायित्व मूल्यों की स्थापना के प्रयत्न होने लगे। वैयक्तिक स्वतंत्रता ने मानव –समानता के मूल्य पर बल दिया। इसका यह परिणाम हुआ कि व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में विचारने का प्रयास प्रारंभ हुआ। महात्मा गांधी मनुष्य को मूलतः बुरा नहीं मानते थे। वह उसको सुधार के द्वारा नवीन मूल्यों के ग्रहण योग्य बनाने के पक्षपाती थे। इसका प्रमुख कारण यह है कि एक ओर वे आचारणवादी और दूसरी ओर आध्यात्मिक प्रवृत्ति के थे। इसी कारण गांधीजीने पंचशील सिद्धांत का निर्माण किया और धर्म तथा राजानिति का समन्वय किया। वे मानव सेवा माध्यम से मोक्ष की कामना करते है।

भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों एवं मानवीय मूल्यों की रक्षा में तत्पर प्रसाद जी की 'गुण्डा' कहानी अपने में बेजोड़ रचना है। काशी के समसामयिक, सामाजिक, व सांस्कृतिक स्थिति का शब्द चित्र उपस्थित करना इस कहानी का उद्देश्य है।

काशी की संस्कृति चिर महान है। 'गुण्डा' संश्रक व्यक्ति भी नैतिक मूल्यों की रक्षा के लिए अपना उत्तरदायित्व निर्वाह करने में तत्पर दिखाई देता है। इस मायने में काशी के गुण्डों और अन्यत्र के गुण्डों में काफी अंतर है। लूट – पाट, छिछोरपना, बटमारी, बलात्कार, वासनावृत्ति, दुश्मनी का गलत ढंग से बदला लेना आदि से हटकर काशी का गुण्डा मौज मस्ती में विश्वास, फकड़ाना स्वभाव अपने विश्वस्त लोगों के विश्वास की रक्षा, प्रेम निर्वाह और सौपी गयी जिम्मेदारियों को पूरा करने में तत्पर दिखाई देता है। मानव – मूल्यों की रक्षा के लिए वह बद्ध परिकर है।

'गुण्डा' भारतीय संस्कृति पर आधारित यथार्थवादी कहानी है। कहानी में ऐतिहासिक समय उतना ही महत्वपूर्ण है जितना मानवीय समय। ईसा की अठराहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में वह काशी नहीं रह गयी थी। जिसमें उपनिषद के अजातशत्रु की परिषद में ब्रम्हा – विद्या सीखने के लिए विद्वान ब्रम्हाचारी आते थे। गौतम बुद्ध और शंकराचार्य के धर्मदर्शन के वादविवाद कई शताब्दियों से लगातार मंदिरों और मठों के ध्वंस्त और तपस्वियों के वध के कारण प्रायः बद्ध हो गये थे। जयशंकर प्रसाद जी द्वारा लिखित 'गुण्डा' कहानी का नायक नन्हकू सिंह नैतिक मूल्यों की रक्षा के लिए आत्म – त्याग को भी तुच्छ वस्तु समझता है। पन्ना देवी से परिणय कर सकने में असमर्थ नन्हकू सिंह आजीवन ब्रम्हाचर्य रहने का संकल्प लेता है और निर्वाह भी करता है। यह कहानी ऐतिहासिक परिपेक्ष है। भारत का तत्कालीन गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स बनारस के राजा चेतसिंह को पकड़ना चाहता है। एक प्रतिष्ठित जमींदार का पुत्र नन्हकू सिंह जिसकी प्रतिद्वंद्वता अपने राजा के प्रति है। काशी के राजा और रानी का सुरक्षित स्थान पर भेजना चाहता है। इस उपक्रम में एक सवाल के जवाब में नन्हकू सिंह कहता है 'जब तक राजा नाव पर न बैठ जायेंगे तब तक सत्रह गोली खाकर भी नन्हकू सिंह जीवित रहने की प्रतिज्ञा करता है। चेतसिंह जाते हुए देख रहे हैं - 'नन्हकू के चट्टान सदृश्य शरीर से गैरिक की तरह रक्तधारा बह रही है। गुण्डे का एक- एक अंग कटकर वहीं गिरने लगा वह काशी का गुण्डा था।

इस प्रकार गुण्डा कहानी में कथा तत्व की जगह भाव तत्व की प्रमुखता है। एक विशिष्ट भावभूमि पर आधारित यह कहानी मनुष्य के अंतर्जगत, उसकी चितवृत्ति और सूक्ष्मतम मनोदशाओं से हमारा साक्षात्कार कराती है।

गुण्डा कहानी में पन्ना देवी से परिणय कर सकने में असमर्थ नन्हकू सिंह आजीवन ब्रम्हचर्य रहने का संकल्प लेता है और निर्वाह भी करता है किन्तु यह भी ध्यातव्य है कि पन्ना देवी की रक्षा के लिए नन्हकू सिंह जो प्रतिज्ञा करता है, उसे पूरा भी करता है। अपवादग्रस्त स्थिति में फँसी हुई पन्ना का समाचार पाकर नन्हकू सिंह पन्ना की सहायता करने के लिए हथियारों से लैस होकर निर्भयतापूर्वक चल पडता है। उपर्युक्त स्थान पर पहुँचकर वह पूछता है- महारानी कहाँ है? महाराजा तेजसिंह के पूछे जाने पर तुम कौन हो? का उत्तर नन्हकू सिंह ने जिस विनीत स्वर में दिया, निश्चय ही आह्लादकारक ओर मानवीय मूल्यों की दुग्गी पींटता हुआ प्रतीत होता है- "राज परिवार का एक बिना दाम का सेवक।" इस प्रकार मनियार सिंह

और नन्हकू सिंह का वार्तालाप भी दृष्टव्य है- मनियार सिंह ने पूछा- “तुम क्या कर सकते हो ? मैं मर सकता हूँ । पहले महारानी को डोंगी पर बिठाईये नीचे दूसरी डोंगीपर अच्छे मल्लाह है, फिर बात कीजिए।”

नन्हकू सिंह के चरित्र में प्रेम का उत्कर्ष देखा जा सकता है। पन्ना को न प्राप्त कर सकने के बावजूद भी अपने प्रेम को अपमानित होने से बचानेके लिए मूल्य से हटकर खेल जाना नन्हकू सिंह के ही साहस की बात थी, पर पन्ना को भी अपने प्रेमी पर पूर्ण विश्वास था- पन्ना ने नन्हकू को देखा। एक क्षण के लिए चारों आँखें मिलीं, जिनमें जन्म –जन्म का विश्वास ज्योती की तरह जल रहा था। नन्हकू के विश्वास पर राजमाता पन्ना अपने पुत्र सहित किले से बाहर हो जाती है। नन्हकू उनकी रक्षा, अपने प्रेम व विश्वास की रक्षा, प्रेम के हवन – कुण्ड में अपने जीवन की आहुति से करते हुए वैयक्तिक प्रेम – मूल्य की मिसाल कायम कर देता है। मानव का रक्षा दायित्व बोध और कर्तव्य निष्ठा का एक दूसरा उदाहरण नन्हकू सिंह के चरित्र में देखा जा सकता है। नन्हकू सिंह की बाधी सिंह के परिवार से परम्परागत वैर है। बोधी सिंह जब अपने लड़के की बारात गाजे – बाजे के साथ लेकर जा रहे थे इसी बीच प्रतिशोध की ज्वाला से जलता हुआ नन्हकू सिंह, डा. बोधी सिंह लड़के की बारात छिन्न भिन्न करने का उपक्रम करने लगा।

कन्धे पर गड़ासा लिए हुए अपने वीर रूप को प्रदर्शित करता हुआ नन्हकू सिंह बोधी सिंह को निपटनेके लिए पूरी तैयारी के साथ आनेकी सूचना मलूकी से भेजता है किन्तु वाहक मलकी से यह सुनकर बोधी सिंह उसे कहते हैं - ‘जा बे कह देकी हमकों क्या मालूम कि बाबू साहब वहाँ खड़े है। जब वह हैं ही, तो वो समधी जाने का क्या काम है।’ बोधी सिंह वहीं से वापस हो गये। यहाँ बोधी सिंह की चालाकी और नन्हकू सिंह की तपाक व नैतिकता जाहिर होती है। नन्हकू सिंह अपने लड़के की तरह विवाह सम्पन्न कराकर सुरक्षित उनके घर पर वापस भेज देता है।

गेंदा नामक पन्ना की दासी जो दुलारी नामक वेश्या का रंग उखाडने के लिए नन्हकू सिंह के प्रति महारानी से भला – बुरा कहना चाहती है। रोककर दुलारी ने जो कुछ भी कहा है, वे रेखांकित किये जाने योग्य है - ‘यह झूठ है। बाबू साहब के ऐसा धर्मात्मा को कोई है ही नहीं। कितनी विधवाएँ उनकी दी हुई धोती से अपनी तन ढंकती है। लोगों की उनसे रक्षा होती है। पन्ना द्वारा यह कहने पर की ‘दुलारी’ वे तेरे यहाँ आते है न? इसी से तू उनकी बड़ाई ---। नहीं सरकार! शपथ खाकर कहती हूँ कि बाबू नन्हकू सिंह ने आज तक कभी मेरे कोठे पर पैर नहीं रखा। नन्हकू सिंह के सम्पूर्ण चरित्र को समझने में योगदान देते है।

अंतः हम कह सकते है कि कथा परिणति और ‘प्रसाद की कहानी यदि जीवन का दर्पण है तो तेजी से बदला हुआ जीवन भी उसमें रुपायित होगा और ‘प्रसाद’ की उत्कृष्ट कहानी ‘गुण्डा’ में कथा की परिणति क्रोध और घृणा से सहानुभूति में होती है।

अतीत को सजीव करने की चिंता ‘प्रसाद’ को अधिक रहती है ---। प्रसाद जी की कहानियाँ सांस्कृतिक और भावनात्मक एकता की दृष्टि से अनुपम है। पुरस्कार, आकाशदीप, गुण्डा, ममता, सालवती आदि उनकी कहानियों के उत्कृष्ट उदाहरण है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कहानी जीवन के उन आयामों का संक्षिप्त चित्र है जिनमें जीवन का कोई न कोई रूप अवश्य चित्रित है। संघर्ष और द्वन्द के वास्तविक सच्चे एवं ध्रुव रूप है। 'प्रसाद'की कहानियों में ऐसे भाव – चित्रों का अभाव नहीं है, जिसमें जीवन द्वन्दों का रेखांकित न किया गया हो किन्तु कभी कभी उनके आदर्शमूलक दर्शन में चरित्र संघर्ष के सामने गौण रूप से चित्रित किया गया है और भाग्य तथा भगवान के आश्रय पर उसका संघर्ष कुछ थम जाता है, कुछ निष्क्रिय हो जाता है। कुल मिलाकर उसका कथा फलक पर्याप्त जीवन द्वन्दों को रूपायित करने में सफल रहा है। 'प्रसाद'जी का समूचा व्यक्तित्व भावात्मकता, काव्यात्मकता, प्रकृति – प्रेम, सौंदर्य – प्रेम, रूप-चित्रण, कला, गीततत्त्व और रेखाचित्र का घुला – मिला स्वर चारित्रिक औदात्य प्रणय की भीनी – भीनी मधुर –माधवी, गन्ध – मादकता का उनींदा वातावरण और मानव – हृदय की विलक्षण मनो स्थितियों का सूक्ष्म अध्ययन और सूक्ष्म चित्रण आदि इस कहानी में मूर्त हो उठा है।

२. 'ईदगाह तथा जहाँ लक्ष्मी कैद है'

ईदगाह प्रेमचंद का जन्म वाराणसी के पास लमही नामक गाँव में सन् १८८० में हुआ। इनकी माँ सदा बीमार रहती थी, पिता डाकघर में मुंशी थे। घर में खेती की पर्याप्त भूमी न होने के कारण नौकरी करके जीविका चलाना इनके लिए एक मात्र साधन था। प्रेमचंद्र सच्चे अर्थों में भारतीय जनता के कथाकार है और गुलामी, अशिक्षा, अंधविश्वास के विरुद्ध उन्होंने निरंतर संघर्ष किया। इन्होंने समान्य जनता के दुख- दर्द एवं स्थितियों को उठाकर कहानी के सांचे में ढाल देने वाले कहानीकार है। 'ईदगाह' उनकी इसी तरह की एक मार्मिक कहानी है। 'ईदगाह' प्रेमचंद की उन कुछ चुनिंदा कहानियों में से है, जो प्रेमचंद की अद्भुत रचना – सामर्थ्य को उँचाईयों की गवाही देती है। हिन्दी के इतिहास में प्रेमचंद की कहानियों का संसार निश्चय ही कालजयी इमारत की तरह आज अनेक दशकों के बाद भी अक्षुण्ण और अजेय चला आ रहा है। लेखक के तौर पर प्रेमचंद का महत्व आज न केवल बरकारिरी है, अपितु और बड़ा है यह सचमुच रोचक है कि अपने नयेपन और यर्थाथपरकता के बड़े – बड़े दावे करने वाले पीछे छूट गये और प्रेमचंद आगे बढ़ते गये। ईदगाह जैसे काहानी का विशेषण इस ऐतहासिक प्रक्रिया का बखूबी राज खोलता है।

'ईदगाह' उस हामिद नामक बच्चे की कहानी है जिसके माँ- बाप नहीं है। अंत्यत गरीबी में जी रही उसकी दादी अमीना ईदगाह के मेले में जाने के लिए अपनी जमापूजी तीन पैसे देती है। मेले में हामिद के मित्र मैहमुद, मौहसिन, नूरे और सम्मी भी जा रहें हैं। वे मेले में मिठाईयाँ खाते हैं और तरह तरह के खिलौने खरीदते हैं। हामिद को मेले में भी अपनी दादी का ख्याल आता है जिसकी अंगुलियाँ रोटीयाँ बनाते समय जल जाती हैं। वह उन पैसे से एक चिमटा खरीद लेता है। वह चिमटे की प्रासंगिकता अपने मित्रों को समझाते हुए कहता है – कि कंधे पर रखा तो बंदूक हो गयी, हाथ में लिया तो फकीरो का चिमटा हो गया। इससे मजीरे का काम भी हो सकता है। एक चिमटा जमाने पर सारे खिलौने की जान निकल जाय जबकि खिलौने चाहे जितना जोर लगाएँ वे चिमटे का बाल भी बाँका नहीं कर सकते।

कहानी अपने चरमोत्कर्ष पर तब पहुँचती है, जब उसकी दीदी उसके हाथों में चिमटा देखती है और उस पर नाराज होती है। हामिद सफाई में कहता है – तुम्हारी उंगुलियाँ तवे से जल जाती थीं इसलिए मैंने इसे ले लिया। दादी का गुस्सा अन्ततः स्नेह में बदल गया। 'ईदगाह'

जैसी कहानियों के संसार से गुजरना सचमुच एक सुखद और विस्मयकारी अनुभव से गुजरना है।

‘ईदगाह’ कहानी में प्रेमचंद का रचना कौशल अपने समूचे सामर्थ्य के साथ हमारे सामने आता है। कथाकार ने ईद के त्यौहार के अवसर पर एक गरीब –सूरत बालक के ईदगाह जाने की यात्रा के छोटे – से कथा –प्रसंग को लेकर, भारत की धरती पर मानव- नियति के व्यापक परिदृश्य को अभिव्यक्ति प्रदान की है। इस कहानी का समूचा ढांचा जिस बुनियादी आधार पर खड़ा हुआ है, वह हमारी दुनिया का वही चिरपरिचित वर्ग - विषमता का यर्थाथ है, जो मानव –समाज और उसकी नियति को सबसे ज्यादा प्रभावित करने वाला है। बचपन के दिनों की निपट निश्छलता, निर्मलता और भोलेपन की भूमि पर ही इस वर्ग विषमता के अपना ‘कूर’ चेहरा उठाने की ‘स्थिति’ से लेकर उससे उत्पन्न होने वाली अन्य अनेक स्थितियों के यर्थाथ के विभिन्न स्तरों को चित्रित किया है। इसी तरह हास्य, व्यंग्य, विनोद, संघर्ष, करुणा और वात्सल्य की स्थितियों के विविध स्तरों से बुनी गयी है। हामिद के गांव की वर्ग - विषमता जन्य वेदना के अंधेरे में लिपटा हुआ ईद का रौशन त्यौहार आता है और इसी के साथ शुरु होती है कहानी। शुरुवात ईद के दिन चमकते हुए सूर्य वाले प्रभात की बेला से होती है। त्यौहार आने की खुशी और उसे मनाने के उत्साह की रोशनी से भरे गाँव के लोगों के सामने अंधेरा नाच रहा है। प्रेमचंद ने हामिद की लड़ाई को कहानी के केन्द्र में रखते हुए उसके अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष की कथा कही है। बचपन की आशा और उत्साह के साथ हामिद के द्वारा लड़ी जाने वाली यह लड़ाई बचपन के स्तर पर ही घटित होने वाले संघर्ष की झलक दिखलाती है। मेले के मनमोहक दृश्य को उसकी रूप-रंग, गंध-स्पर्श स्वाद से भरपूर चीजों को –उसकी समस्त गतिविधियों को देख रहा है। हामिद का यह निर्वासन ‘उस विशाल भारतीय जनता का निर्वासन है। जो वर्गीय और जातिगत दृष्टि से समाज के सबसे अंतिम छोर पर खड़ी है।

मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि पर हामिद अकेला, जैसे अभिमन्यु की तरह लड़ाई लड़ता हुआ आगे बढ़ता है, तमाम महारथियों के बीच हरा घिरा हुआ, उनके आघात से किसी तरह बचता हुआ आगे चल कर चिमटा खरीदने के साथ हामिद का संघर्ष हास्य के धरातल पर आता है, लेकिन उसके नीचे करुणा की अर्न्तधारा गाढ़ी होती हुई चलती रहती थी। हामिद की विजय के भीतर करुणा की अर्न्तध्वनि ही बजती है। अभावों के दुख – दर्द से मंजे हुए और कल्पना शीलता बाल- मन की प्रतिभा से हामिद इस युद्ध में अपने चिमटे के हथियार से जीत जरूर जाता है। इसमें एक और है एक बच्चे का उमंग – उत्साह आशा से भरा, बेफिक्री और अल्हड़ता से छलकता बचपन दूसरी ओर है उसमें संगम और त्याग से उत्पन्न होने वाला प्रत्यावर्तन जो अपने आप में एक गहरी मानवीय विडम्बना को उजागर करती है।

‘ईदगाह’ में प्रेमचंद की यर्थाथदर्शी दृष्टि उसकी रचना –शैली में भी क्रियाशील दिखाई देती है। हामिद की कल्पनाओं की उड़ाने , बच्चों की वेपरवाह उमंग, उत्साह उनकी बातचीत नोक- झोक को प्रेमचंद पूरी प्रमाणिकता के साथ अंकित करते हैं। वो चाहे कहानी के प्रारंभ में ईद के दिन की प्रभात का वर्णन हो, गाँव से मेला चलने का और शहर और उसके मेले के नजारे का वर्णन हो। प्रेमचंद उसके रूप-रंग, गन्ध- स्वाद के साथ उसका दृश्य अंकित करते हैं।

हिन्दी कहानी प्रेमचंद के बाद जिस रास्ते से होकर अपने मौजूदा मुकाम पर पहुँची है, उस रास्ते को तय करने के दौरान जहाँ उनकी शैली – शिल्प, भाषा और तकनीक के सन्दर्भ में उल्लेखनीय विकास किया है, वहाँ बहुत कुछ उनसे छूटता भी रहा है।

प्रेमचंद की कहानियों के पाठक के सामने ईदगाह अपनी अर्थध्वनियों के साथ आकार ग्रहण करती है। लेकिन कुल मिलाकर यह कहानी प्रकाश की विजय कथा या गौरव- कथा नहीं, करुण- कथा ही बनी है। कारण यह कि कहानी के अन्त में हामिद के त्याग से उत्पन्न होने वाला 'खूब ठोस' रस और स्वाद से भरा हुआ स्नेह का प्रकाश उस अंधेरे को चुनौती देता हुआ नहीं आता। यह प्रकाश उस अंधेरे में इस अंधेरे के बावजूद उत्पन्न जरूर हुआ है- अपने मधुर सौंदर्य को विकीर्ण करता हुआ लेकिन वह हामिद और उसकी दादी के जीवन के ठोस अंधेरे को भेद नहीं सकता, उसका विध्वंस नहीं कर सकता। यर्थाथ का यह चित्र अपनी यथार्थता में एकदम सच्चा है और एक यर्थाथवादी लेखक के रूप में प्रेमचंदकी सामर्थ्य को दर्शाता है।

जहाँ लक्ष्मी कैद है

यूरोपीय औद्योगिक क्रांति ने पूँजीवादी व्यवस्था को जन्म दिया, जिससे सामंतवादी व्यवस्था चरमराने लगी। सामंती व्यवस्था में जमीन का असली मालिक जमींदार होता था किसान उत्तराधिकार के आधार पर भूमी जोतता था। यह जमींदार और सामंत वर्ग बेगारी व नजराना के साथ – साथ भिन्न – भिन्न प्रकार के अत्याचार करता था फलस्वरूप शोषक व शोषित वर्ग में तनाव बना रहता था और इसी तनाव से पूँजीवादी व्यवस्था का जन्म हुआ। प्रारंभ में पूँजीवादी व्यवस्था विकास और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की पक्षधर थी, उसका शिकंजा भी उतना मजबूत नहीं था, किन्तु धीरे – धीरे मशीनों की फौलादी जड़ता ने आदमी के भीतर प्रवेश पा लिया, ईश्वर की जगह मशीनों ने और प्रेम की जगह पैसे ने ले ली।”

राजेंद्र यादव की प्रस्तुत कहानी जहाँ लक्ष्मी कैद है। नई कहानी का सशक्त हस्ताक्षर तथा पूँजीवादी व्यवस्था पर करारा व्यंग्य है। मजे की बात तो यह है कि कहानी में पूँजीपति के रूप में विचित्र मात्र लाला रूपाराम अंधविश्वास का भी प्रबल पोषक है। चौकीदार गोविंद को बताते हैं कि” जब से लाला रूपाराम के बड़े भाई रोचूराम की लड़की गौरी पैदा हुई उसकी हालत संभलती ही चली गई- अब तो यह अपना लाला कभी इस ओझा के पास जा कभी उस फकीर के पास जा, कभी इसकी 'मानता' कभी उसका संकल्प दिन – रात बस यहीं कि हे भगवान, मेरी लड़की हो ।” उसके अंधविश्वास की परिसीमा यहीं समाप्त नहीं होती बल्कि 'लक्ष्मी' के घट से विदा होते ही धन लक्ष्मी भी न कूच कर ले इस डर से वह अपनी बेटी की शादी नहीं करता। नतीजा वह उन्माद का शिकार हो जाती है। उसे हिस्टीरिया के दौर पडने लगते हैं और जैसे – जैसे उसकी उम्र बढ़ती जाती है, उसकी इच्छाएँ दमित होती जाती हैं, वह अपने ऊपर बेकाबू होकर चिल्लाती है - “ले तूने मुझे अपने लिए रखा है, मुझे खा, मुझे चबा, मुझे भोग — ?

पूँजीवादी मनोवृत्ति के चलते नारी की समूची अस्मिता को कैद बना लेने की घटना कहानी में तीखे व्यंग्य की तरह मुखरित हुई है। रघुवीर सिन्हा के अनुसार - “एक अंधविश्वास को आधार बनाकर धन के मोह को एक अनव्याही लड़की की यातना के ब्याज से उजागर किया गया है। पूँजी जोड़ने की हवस के कारण पूँजीवाद व्यवस्था में लक्ष्मी की यही स्थिति हो जाती है।

आज भी जहाँ हम २१ वीं सदी में जीने का दम भरते हुए वैश्वीकरण एवं तथा आर्थिक उदारीकरण की बात करते हैं, स्थिति कुछ अधिक नहीं बदली है। वर्तमान समय में भी देश के एक सुप्रसिद्ध उद्योगपति की पारिवारिक संपत्ति के बंटवारे को लेकर हुई लिंग परिवर्तन की घटना पूँजीवादी मानसिकता का जीवंत उदाहरण है।

पूँजीवादी व्यवस्था में कैद 'लक्ष्मी' गोविंद को अपना उद्धार करने के लिए पुकारती है — किंतु गोविंद जो कि आधुनिक व्यवस्था के लाचार युवा वर्ग का प्रतीक है — उसकी पुकार सुनकर तड़पता है, झरोखे से झाँकता है किंतु खुलकर सामने नहीं आता। लक्ष्मी की इस व्यथा को महसूस करता हुआ चौकीदार तीखा आक्रोश व्यक्त करते हुए कहता है - “क्या जिंदगी है बेचारी की ” बाप है जो उसे भोग भी नहीं सका और छोड़ तो सकता ही नहीं। मेरी तो उम्र नहीं रही वर्ना कभी मन होता है ले जाऊँ भगाकर जो होगा सो देखा जाएगा।”

चौकीदार जो की कभी फौज में रहा है, कहानी में शोषित वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। लाला रुपाराम की ज्यादतियों का विरोध करता हुआ कहता है -“ इसकी तो बोटी — बोटी गर्म लोहे से दागी जाय और फिर टिकटी बांधकर गोली से उड़ा दिया जाय।”

इस पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीवादी के धन का लोभ, और कमाने की इच्छा तथा कहीं उसका कमाया हुआ धन उसके घर से चला न जाय, यह डर इस कदर हुआ धन उसके घर से चला न जाय, यह डर इस कदर बढ़ जाता है कि एक पूँजीपति पिता अपने सबसे निकटतम रिश्ते, अपनी बेटी का भी शोषण करने से पीछे नहीं हटता शोषण के निष्कृष्टतम स्तर — पर पहुँचे इस पूँजीवादी के परिवेश में चरमराते मानवीय मूल्य व अपना अस्तित्व खोते पारिवारिक संबंध मानवता के लिए सचमुच खतरे की घंटी है।

‘ जहाँ लक्ष्मी कैद है ’ कहानी वस्तुतः एक ऐसी लड़की की कहानी है जो अपनी कैद से छूटना चाहती है। इस कहानी का संबंध जितना अस्तित्व की लड़ाई लड़ रही लड़की लक्ष्मी से है उतना ही वास्तविक लक्ष्मी (विष्णु की पत्नी) से भी है।

सेठ रुपाराम ने अपनी लड़की लक्ष्मी को कैद कर रखा है। वह उसकी शादी इस अंधविश्वास के कारण नहीं करता कि उसकी समृद्धि का कारण उसकी पुत्री लक्ष्मी ही है। एक पत्रिका की कुछ रेखांकित पंक्तियों को देखने के पश्चात गोविन्द लक्ष्मी के प्रति आकर्षित होता है, लेकिन गोविन्द का प्रेम कल्पनाजन्य ही है। बाद में यह पता चलने पर कि लक्ष्मी के प्रति आकर्षित होता है, लेकिन गोविन्द का प्रेम कल्पनाजन्य ही है। बाद में यह पता चलने पर कि लक्ष्मी को पागलपन के दौर पड़ते हैं उसकी अवधारणा साथ कहानी का अन्त कर पाठकों के समक्ष भी प्रश्न उठाता है कि ‘क्या मैं ही पहला आदमी हूँ जो इस पुकार को सुनकर व्याकुल हो उठा हूँ या औरों ने भी इस आवाज को सुना है और सुनकर अनसुना कर दिया है? और क्या सचमुच जवान लड़की की आवाज को सुनकर अनसुना किया जा सकता है? ’

इस कहानी में नारी चेतना की झलक भी मिलती है। कैद लक्ष्मीका उन्माद, पागलपन के दौर तथा पिता को संबोधित करते हुए यह कहना कि ‘ले मुझे भोग’ उसकी चेतना तथा कहानीकार की संवेदना को उजागर करता है। गोविंद को परेशान देखकर चौकीदार का यह

कहना है कि परेशान क्यों हो रहे हो बाबूजी? आज चंडी चते रही है।” इस बात की ओर इंगित कर रही है। प्रस्तुत उसकी मुस्कराहट में व्यंग्य है।

प्रस्तुत कहानी कथ्य एवं शिल्प के स्तर पर भी नई कहानी को महत्वपूर्ण विशेषताएँ लिखे हुए है। समकालीन परिवेश में परिस्थितिज्य घटनाओं व मनः स्थिती का चित्रण कहानी की विशेषता है। कहानी का आरंभ गोविंद की व्याकुलता व संभ्रम से होता है। किताब में कुछ पंक्तियों के नीचे नीली स्याही से लगे निशान उसे इस तरह से बैचैन कर देते हैं कि सोते – जागते उसे एक ही आवाज सुनाई देती है – “मुझे निकालो, मुझे निकालो” और फिर वह इसी उधेड़बुन में पड़ जाता है कि आखिर यह लक्ष्मी कौन है? लक्ष्मी को जानने की उसकी उत्सुकता कहानी को विस्तार देती जाती है और अपने सभी प्रतीकों व बिंबों के साथ कहानी की सच्चाई परत दर परत खुलती चली जाती है। आज के दिग्भ्रमित युवा –वर्ग का प्रतिनिधित्व करता हुआ गोविंद पूरी कहानी में लक्ष्मी की सच्चाई जानने को व्यग्र रहता है और अंत में लक्ष्मी के बारे में सोचते –सोचते स्वयं से प्रश्न करता है –“क्या मैं पहला आदमी हूँ जो इस पुकार को सुनकर ऐसा व्याकुल हो उठा हूँ या औरों ने भी इस आवाज को सुना है और सुनकर अनसुना कर दिया है? और क्या सचमुच जवान लडकी की आवाज को सुनकर अनसुना किया जा सकता है?” और इस प्रकार कहानी की परिणति को पाठकों पर छोड़ता हुआ कथाकार गोविंद के प्रश्नों को अनुत्तरित ही छोड़ देता था।

३. चीफ की दावत

भीष्म साहनी आधुनिक युग के बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार है। उन्होंने कई कहानियाँ उपन्यासों नाटकों, निबंधों आत्म कथात्मक रचनाओं तथा बालोपयोगी कहानियों का सृजन करके आधुनिक हिंदी साहित्य को सुसम्पन्न बनाया है। कथाकार के रूप में भीष्म साहनी की कृतियों ने हिंदी कथा साहित्य की विकास यात्रा में अनेक महत्वपूर्ण पड़ाव तय किए हैं। प्रगतिशील लेखक एवम् युग चेता कलाकार के रूप में साहनी ने ख्याति अर्जित की है। भीष्म साहनी प्रगतिशील कहानीकार है। उन्होंने अपनी कहानियों में मूलतः मध्यवर्ग को लिया है। अपनी प्रत्येक कहानी में समाज की किसी न किसी विडंबना को वे उद्घाटित करते हैं और उनकी यह विडंबना हमारे वर्तमान समाज के किसी न किसी अन्तर्विरोध की ओर संकेत करती है। मध्य वर्ग की पीड़ा घुटन बिखराव, झुठी मान्यताओं आदि को उनकी कहानियों में प्रभावशाली ढंग से अभिव्यंजित किया गया है। उनकी कहानियों में संपूर्ण भारतीय समाज अपनी सारी प्रबलताओं एवम् दुर्बलताओं के साथ विश्लेषित हुआ है। भीष्म जी ने अपनी कहानियों में ज्यादातर निम्न तथा मध्यवर्गीय परिवारों की समस्याओं को अभिव्यक्त किया है। भीष्म साहनी जिन्दगी से सच्ची घटनाओं को लेकर जिंदगी के विभिन्न पहलुओं का गहराई से झाँकने में सफल हुए हैं।

‘पहला पाठ’ भीष्म साहनी का दूसरा कहानी संग्रह है, जो १९५७ में प्रकाशित हुआ था। ‘चीफ की दावत’ इसी कहानी संग्रह की एक महत्वपूर्ण कहानी है। इस कहानी में रीढ़ विहीन मध्य वर्ग का आडंबरपूर्ण चरित्र स्पष्ट होता है। प्रस्तुत कहानी में शासनाथ की निरक्षर बुढ़िया माँ घर की सबसे बड़ी समस्या बनी हुई है। शामनाथ और उनकी पत्नी अपने घर अपने चीफ को दावत पर आमंत्रित करते हैं। मध्य वर्गीय आधुनिकता के दबाव में मिथ्या गौरव के प्रदर्शन की प्रवृत्ति के कारण उनका तालमेल पुरानी पीढ़ी की अपनी माँ से नहीं हो पाता। चीफ के स्वागत में

घर को नए तरीके से वे सजाते हैं। वे चाहते हैं कि चीफ पर उनकी उच्चतम जीवन शैली का सिक्का जम जाए। शामनाथ ने नौकरी में पदोन्नती पाने के लालच में अपने चीफ को दावत दी है। चीफ विदेशी है, वह अमेरिकन है। इसलिए अपनी हर कमजोर दरारों को ढंकने का वह प्रयास करते हैं। लेकिन उनकी बुढ़ी माँ उनके लिए सबसे बड़ी समस्या बन जाती है। घर का फालतू सामान आलमारियों के पीछे और पलंगों के नीचे छिपाया जाता है। शामनाथ पत्नी से अंग्रेजी में कहते हैं कि माँ का क्या होगा। श्रीमती जी कहती है उन्हें पिछवाड़े वाली उनकी सहेली के घर भेज दो, रात भर वहीं रहे, कल आ जाएंगी। परंतु वे बातें शामनाथ को गवारा नहीं हुईं क्योंकि “मैं नहीं चाहता कि उस बुढ़िया का आना जाना यहाँ फिर से शुरू हो।” फालतू सामानों के साथ अपनी माँ को भी वह दुबका देते हैं क्योंकि माँ पुरानी पीढ़ी की हैं यदि वह चीफ के सम्मुख आ गई तो उनका पिछड़ापन उजागर बदलती हो जाएगा। इसलिए वे माँ को चीफ के सामने न आने की हिदायत भी देते हैं। प्राचीन मान्यताओं को तथा पूँजीवाद के बढ़ते प्रभाव के कारण रिश्तों में पड़ी दरार को व्यंग्यात्मकता से भीष्मजी ने यहाँ प्रस्तुत किया है। कहानी में मध्यमवर्गीय मानसिकता और बदलते संबंधों की विडंबना का बहुत वास्तविक चित्रण हुआ है। आधुनिक बोध एवम् मानवीय संवेदना को केन्द्र बनाकर नए मानव मूल्यों को प्रस्तुत करने का प्रयास भीष्म साहनी ने इस कहानी में किया है। चीफ की दावत में लेखक ने मध्यवर्ग के खोखलेपन और उसकी मूल्यहीनता की ओर संकेत किया है। कृत्रिम प्रदर्शन – प्रियता और न्यस्त स्वार्थ का नंगा रूप प्रस्तुत कहानी का कथ्य है।

‘चीफ की दावत’ भीष्म जी की सबसे प्रसिद्ध कहानी है। जिसके नायक शामनाथ को अपने स्वार्थ के लिए चीफ को दावत देते वक्त माँ एक अड़चन लगती है। माँ से ही काम बनता देख स्वार्थी बेटा उसे खुश करके अपना स्वार्थ साध लेता है। यह कहानी मनुष्य की स्वार्थी वृत्ति के एक अलग ही रूप को प्रस्तुत करती है। शामनाथ अपनी तरक्की चाहता है और इसके लिए वह किसी भी हद को पार करने के लिए तैयार है। वह अपनी माँ का जबरदस्ती एक कुर्सी पर पार्टी खत्म होने तक बैठने के लिए मजबूर करता है। साहब जब उसे फुलवारी की बात पूछता है तो यह जानते हुए भी कि उसकी माँ की आँखें कमजोर हैं, वह साहब से कहता है – “वह जरूर बना देंगी। आप उसे देखकर खुश होंगे।” सिर्फ अपने स्वार्थ के लिए माँ को काम करने के लिए मजबूर कर देता है। माँ की ममता और स्वार्थी बेटे की उपेक्षा का यथार्थ चित्रण यहाँ खींचा गया है। इस संदर्भ में डॉ. मधुसिंह ने लिखा है- “चीफ की दावत” में शामनाथ की निरक्षर बुढ़िया माँ घर की सबसे बड़ी समस्या बनी हुई है। घर का फालतू सामान तो छिपाया जा सकता है लेकिन माँ तो जिंदा फालतू सामान हैं। इसलिए शामनाथ माँ को इस घर से उस घर तक छिपाता फिरता है। नवीनता यह है कि माँ इस पर नाराज नहीं क्योंकि वह भी अपने बच्चेके भविष्य के लिए चिंतित है, पर अपनी परिस्थिति पर संकुचित अवश्य है। शामनाथ माँ (सामान) को छिपा नहीं सका। दावत में आया चीफ शामनाथ की माँ से स्वयं मिलता है और बिडम्बना यह है कि उससे शामनाथ का काम भी बन जाता है। गहराई से विचार करने पर माँ प्राचीनता का प्रतीक है। मधुसिंह जी ने लिखा है वह अत्यन्त यथार्थ है क्योंकि माँ बेटे की गालियाँ खाकर भी चुप रहती है क्योंकि उसे बेटे के भविष्य की चिंता है। इसी वजह से वह प्राचीनता के प्रतीक के रूप में हमारे सामने आती है।

आधुनिक काल में युवा पीढ़ी के लिए बूढ़े माता – पिता एक अड़चन के समान लगने लगते हैं। उनके कारण बच्चों के स्टेटस में अंतर आ जाता है। इसी वजह से परिवार में बुजुर्गों की उपेक्षा की जाती है और बुजुर्ग अपने आप की कोसते रहते हैं। भीष्म जी ने ऐसी बुजुर्ग

नारियों का चित्रण भी अपनी कहानी में किया है। शामनाथ अपनी पदोन्नति और अपने साहब को खुश करने के लिए अपनी माँ का दिल दुखाने के लिए भी तैयार हो जाता है। इस कहानी में पाश्चात्य संस्कृति ने अंधानुकरण का एक अलग रूप हमारे सामने प्रस्तुत होता है। इसमें शामनाथ अपने स्वार्थ के लिए चीफ को घर में दावत देता है। पहले पाश्चात्य के अनुकरण के अनुसार शराब का दौर चलता है। इसी वजह से घर में माँ उन्हें एक अड़चन सी प्रतीत होती है। इस प्रकार भीष्म जी ने पाश्चात्य संस्कृति के अंधानुकरण के कारण होने वाली भारतीय संस्कृति के हास को तो दिखाया ही है साथ ही साथ बुजुर्गों की उपेक्षा आदि समस्याओं का अंकन इन्हीं के माध्यम से किया है।

भीष्म साहनी आधुनिक काल के एक लक्ष प्रतिष्ठित साहित्यकार रहें हैं। संवेदनशील साहित्यकार होने के नाते उन्होंने समाज को सूक्ष्म नजरिये से देखा, परखा है। समाज में हर एक व्यक्ति के जीवन में आने वाली अलग – अलग समस्याओं को अलग – अलग पात्रों के माध्यम से उन्होंने प्रस्तुत किया है तो कभी उनका समाधान प्रस्तुत करने का भी प्रयास उन्होंने अपनी सीधी सरल भाषा में किया है।

अपने संकीर्ण स्वार्थों के लिए किसी भी हद तक गिर जाने वाले चरित्र की व्यंग्यपूर्ण सृष्टि इस कहानी का लक्ष्य है और इसीलिए यह कहानी हिन्दी की श्रेष्ठतम कहानियों में से एक है।

४. 'मक्रील' और 'तत्सत्'

'मक्रील' कहानी : कथासार

शूक्ष्मतम मनोविज्ञान की परख के साथ यथार्थ से उसका तादात्म्य स्थापित करके पाठकों में सहज अपना स्थान बना लेने की कला बहुत कम लेखकों में पाई जाती है, यशपाल ऐसे ही दुर्लभ लेखकों में से एक हैं। यशपाल मुख्यतः सामाजिक यथार्थ को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने वाले कथाकार माने जाते हैं। बावजूद इसके वे व्यक्ति के अत्यंत स्वाभाविक एवं सूक्ष्म भावों को अभिव्यक्त करनेवाले पारखी कथाकार हैं। 'मक्रील' यशपाल की एक ऐसी ही कहानी है जो मनुष्य के उन्हीं सूक्ष्म भावों का परिचय देती है। जिसमें मनुष्य प्रकृति, सौंदर्य, यौवन का साहचर्य पाने तथा जीवन के सहज निजी सुख-दुख को बाँटने एवं किसी साथी का साथ पाने के लिए अधीर हो उठता है।

'मक्रील' कहानी में एक विश्वप्रसिद्ध कवि जिसकी प्रतिभा का लोहा यूरोप और अमेरिका ने भी मान लिया है; वह मक्रील की सुहावनी पहाड़ी एवं उसकी आबोहवा में स्वास्थ्य सुधारने के लिए आता है। स्थानीय जनता धवलगिरि होटल में कवि के रहने का अच्छा प्रबंध करते हैं। रात्रि के स्फूर्तिप्रद भोजन के पश्चात् वह मक्रील नदी के उद्दाम प्रवाह का उज्ज्वल चाँदनी में देखने की इच्छा से बेचैन हो उठता है, आवेग और उन्मेष उसकी इस इच्छा का दमन नहीं कर पाते। इसी समय धवलगिरि होटल के अंधेरे बाजू के नीचे के कमरे में रहनेवाली युवती कवि की एक झलक पाने का आतुर थी। इसी प्रतिक्षा में कि कवि को एक आँख देख ले, कवि की खिड़की की ओर टकटकी लगाए खड़ी थी। काँच पर कवि की छाया उसे जब-तब दिखाई पड़ जाती। यहाँ कवि मक्रील को करीब से देखना चाहता है पलभर में वह फुलवारी में आ जाता

है परंतु उसे नदी तक जाने का मार्ग पता नहीं है। इस अज्ञान की अनुभूति होते ही कवि समीप खड़ी उसी युवती को देखकर उससे 'मक्रील नदी किस तरफ है?' पूछता है। मार्ग दिखाने के लिए प्रस्तुत एवं उत्साहित युवती उसे सौ कदम दूर मक्रील के पुल तक लाती है। कवि मक्रील एवं युवती, दोनों के ही सौंदर्य पर मुग्ध हो जाता है तथा दूसरे दिन भी युवती को साथ आने का आमंत्रण दे देता है। बाद में आमंत्रण देनेवाली बात पर संकोच भी करता है परंतु युवती उसके प्रस्ताव को दृढ़तापूर्वक स्वीकृति दे देती है। कमरे में आकर सर्द हवा से ठिठुरे उसके शरीर में सुखद उष्णता का आभास होता है। परंतु ज्यों ही भारी कपड़े उतारने के लिए वह परिधान की मेज के पास आता है, तेज रोशनी से आइने में दिख रहे अपने सफ़ेद बालों एवं झुर्रियों से भरे चेहरे को देखता है। उसका मन भारी विषाद से भर जाता है और वह मक्रील एवं युवती के सौंदर्य की कल्पना कर 'योवन' के अभाव को महसूस करता है।

दूसरे दिन पुनः मक्रील को देखने के लिए वह तत्पर होता है। फुलवारी में जाता है। युवती वहाँ उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। युवती को प्रतीक्षा करते देख वह गदगद हो जाता है। वह युवती से मक्रील की ओर संकेत करके कहता है- 'आप मेरा साथ दे रहीं हैं आपकी कृपा है।' उससे बातें करता हुआ वह अपनी पीड़ा को उसके समक्ष प्रस्तुत करता है कि वह बहुत अकेला है एवं उसके सुख दुख को बाँटनेवाला भी कोई नहीं है। वह सुखी है या दुखी इसकी चिंता किसी को नहीं है। वह कामना करता है कि उसका भी कोई साथी होता, जिसे अपने सुख दुख बतलाता। यह सब शांति से सुन रही युवती तभी कंपित स्वर में जलराशि की तरफ़ दृष्टि किए उसे अपना साथी बना लेने का प्रस्ताव रखती है। कवि किंकर्तव्यविमूढ़-सा खड़ा बात को आगे नहीं बढ़ने देता और फुलवारी में पहुँचकर अपने कमरे में चला जाता है। अपनी वृद्धावस्था की पीड़ा एवं युवती के सौंदर्य से तालमेल बिठाने की नाकाम कोशिश के बाद वह आईने पर तौलिया डालकर सो जाता है। दिनभर कहीं बाहर भी नहीं निकलता।

संध्या होते ही ना जाने क्या निश्चित करके वह पुनः तैयार होकर फुलवारी जाता है जहाँ युवती हमेशा उसे मिला करती थी। फुलवारी पहुँचकर देखता है, तो वह युवती वहीं खड़ी उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। कवि युवती से पूछ बैठता है कि क्या सचमुच में वह उसका साथ हमेशा के लिए देना चाहती है तो युवती दृढ़तापूर्वक अपनी सहमति हामी भरकर देती है। कवि अविश्वास से हँस पड़ता है और उससे कहता है कि- 'यहीं साथ दो मक्रील के गर्भ में'। युवती निर्भीक भाव से नेत्र उठाकर कवि से कहती है- "हाँ, यहीं सही!" कवि अपना हाथ युवती के कंधे पर रखने ही जाता है कि युवती बिना किसी भय के मक्रील की लहरों में छलाँग लगा देती है। कवि अवाक्-सा खड़ा यह देखता रह जाता है। उसे लगता है जैसे मक्रील की लहरें उसे 'आओ! आओ!' की पुकार लगाकर अपने पास बुला रही हों। किसी तरह वह अपने कमरे में लड़खड़ाता हुआ पहुँचता है। 'आता हूँ! आता हूँ' की गुहार लगाता हुआ वह आईने के सामनेवाली कुर्सी पर निश्चल सा बैठ जाता है। अगले दिन कवि का निर्जीव शरीर भी कुर्सी पर पड़ा मिलता है।

मक्रील : मूल संवेदना

'मक्रील' कहानी में लेखक यशपाल ने वृद्ध कवि एवं युवती के माध्यम से दो अलग-अलग संस्कारों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। कवि एवं प्राकृतिक सौंदर्य के अतिचिरंतन

संबंधों का परिचय इस कहानी में चित्रित है जहाँ विख्यात वृद्ध कवि स्वास्थ्य-सुधार हेतु मक्रील की सुहावनी पहाड़ी पर आता है। कवि मूलतः प्रकृति एवं सौंदर्य का उपासक होता है बाद में 'कवि', उसके लिए प्रकृति ही एक मात्र शाश्वत सत्य एवं सौंदर्य दोनों है (Truth is Beauty and Beauty is Truth) यही कारण है कि 'सौंदर्य के उपासक' कवि को मक्रील का सौंदर्य खींच लाता है।

मक्रील के सौंदर्य और मक्रील का मार्ग प्रशस्त करनेवाली युवती के सुघड़-संगमरमर-मूर्ति-रूपी सौंदर्य को देखकर कवि मुग्ध रह जाता है। कमरे में लौटकर जब वह आईने के सामने खड़ा होकर अपने सफ़ेद बालों एवं झुर्रियों से भरे चेहरे को देखता है, तो दोनों हथेलियों से अपने चेहरे को ढ़ँक लेता है जैसे उसकी आत्मा पुनः यौवनावस्था को प्राप्त करना चाहती है। यहाँ लेखक ने बड़ी संजीदगी से मानव-मन की व्यथा को उकेरा है जो अत्यंत मार्मिक है। लेखक ने इस तथ्य को भी रेखांकित किया है कि यौवन के आवेग के समाप्त हो जाने पर सौंदर्य नष्ट हो जाता है। भाववेश की तीव्रता यौवन में अधिक मुखरित रहती है और भावों की उन्मत्तता से ही सौंदर्य का चरमविकास होता है। वृद्ध कवि के शब्दों में- "आवेग में ही सौंदर्य का चरमविकास है। आवेग के निकल जाने पर केवल कीचड़ रह जाता है।" शैशावस्था एवं प्रौढ़ावस्था में यह आवेग उतना गतिशील नहीं रहता जितना कि यौवनावस्था में। मक्रील का उदाहरण देते हुए वृद्ध कवि कहता भी है- "अपने जन्मस्थान पर मक्रील न इतनी वेगवती होगी, न इतनी उददाम। शिशु भी लटपट चाल से वह चलती होगी, समुद्र में पहुँचकर वह प्रौढ़ता की शिथिल गंभीरता धारण कर लेगी।" लेखक ने इसे स्पष्ट करते हुए वृद्ध कवि के कथनों से यह बताया है कि- भाववेश, सौंदर्य, यौवन के उन्माद का असली समय वही है जब वह 'स्फुटरोन्मुख' हो, प्रवाहमय हो- "अरी मक्रील! तेरा समय यही है। फूल न खिल जाने से पहले इतना सुंदर होता है और न तब जब उसकी पंखुडियाँ लटक जाएँ। उसका असली समय वही है जब वह स्फुटोन्मुख हो। मधुमाखी उसी समय उस पर निछावर होने के लिए मतवाली हो उठती है।"

लेखक ने वृद्ध कवि एवं युवती के भावनाओं को बड़े ही मनोवैज्ञानिक एवं मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है। कवि जो सौंदर्य का उपासक है, यौवन के उस पार खड़ा है जहाँ से पुनः यौवनावस्था को प्राप्त करना संभव तो कदापि नहीं है और ना ही उसके मोह को वह झुठला ही सकता है। परंतु, भावनाओं की उतनी ही संवेदनशील एवं यौवन से परिपूर्ण तरलता को वह महसूस करता है। मानवमन की यह सबसे बड़ी विडंबना है एवं प्रीति भी कि 'पुनः वैसा ही जीवन जीया जा सकता'। 'घोषमयी मक्रील' (नदी) को जहाँ कवि के यौवन से कुछ सरोकार नहीं है, वहीं 'मूक मक्रील' (युवती) प्रख्यात कवि को अपने लिए इतना श्रद्धेय बना देती है कि वृद्ध कवि के आयु से भी उसे कोई सरोकार नहीं घोषमयी मक्रील एवं मूक मक्रील में सामंजस्य होते हुए भी विरोधाभास है।

वृद्ध कवि के माध्यम से लेखक ने जीवन के एकाकीपन को प्रस्तुत किया है। वृद्ध कवि अकेला है, इसीलिए एकाकी जीवन की पीड़ा को वह समझता है। जीवन को व्यतीत करने तथा उसे औचित्य प्रदान करने के लिए वह किसी 'साथी' का अवलंब पाना नित्तांत आवश्यक मानता है- "संसार में साथी बड़ी चीज है। (मक्रील नदी की ओर संकेत कर) यह देखिए, इसका कोई साथी नहीं, इसलिए हाहाकार करती साथी की खोज में दौड़ती चली जा रही है।" युवती

ध्यानपूर्वक कवि की बातें सुनती है व प्रभावित होती जाती है। उसके लिए कवि का साथ पाना भी बड़े गौरव की बात है। कवि-गौरव के समक्ष वह स्वयं को तुच्छ समझती। कवि के एकाकी जीवन से स्वयं भी व्यथित हो वह वृद्ध कवि के समक्ष अपना प्रस्ताव रखती है- “मुझे अपना साथी बना लीजिए।” पहले कवि उसकी बात पर विश्वास नहीं करता। पर जब दूसरे दिन वह उसकी प्रतिक्षा में खड़ी रहती है, तो उसे युवती की बातों में दृढ़ता और सच्चाई नज़र आती है। कवि उसके मंतव्य की परख करना चाहता था इसलिए युवती से मक्रील के गर्भ में ही साथ देने के लिए कहता है। परंतु युवती उसी क्षण मक्रील में छलांग लगाकर अपने मंतव्य का प्रमाण दे देती है। वृद्ध कवि हैरान एवं हताश होकर रह जाता है। प्रेम के ऐसे ही निश्चल एवं आवेगपूर्ण भावनाओं की वह प्रतीक्षा में था। अंततः वृद्ध कवि भी उसका साथ देने के लिए मृत्यु का वरण कर लेता है।

लेखक ने बहुत बारीकियों के साथ एक ऐसे ही साथी की बात को कथा में विन्यस्त किया है जो हर अवस्था में सदा-सर्वदा साथ दे। कहानी की मूल संवेदना साथी के साहचर्य पर केंद्रित है। नामकरण का आधार भी केवल ‘घोषमयी मक्रील’ (नदी) के लिए न होकर ‘मूक मक्रील’ (युवती) पर टिका है। प्रत्येक व्यक्ति अपने सुख-दुख को व्यक्तिगत रूप में बाँटना चाहता है; वह चाहता है कि जीवन में जितना वह अपूर्ण है उसके इस अधूरेपन एवं खालीपन को कोई सहज स्वीकार कर उसे अपना साथी बना ले। उसकी अनुभूति का भाग ग्रहण करे जिसके सामने अपने निस्सार यश को फेंक संसार का सहज जीवन बना जा सके। युवती एक ऐसी ही साथी है जो कवि का साथ देने के लिए आवेग में ही अपनी पूर्णता को सिद्ध करना उचित समझती है एवं मक्रील की वेगवती लहरों में छलांग लगाकर वह ‘प्रौढ़ता की शिथिल गंभीरता’, धारण कर लेती है। लेखक के अनुसार यही आवेग का असली समय था जो स्फुटोन्मुख हो आया था एवं कवि भी युवती पर निछावर होने के लिए मतवाला हो उठता है।

इस प्रकार, दो अलग-अलग संस्कारों वाले पात्र साथी की तलाश में मक्रील की सुहावनी वादियों में समा जाते हैं।

‘तत्सत्’ कहानी : कथासार

हिंदी में दर्शन, मनोविज्ञान, अध्यात्म और भाव निष्ठा को कला - चेतना के साथ सम्पृक्त करने का श्रेय जैनेन्द्र को प्राप्त है। हिंदी साहित्य के वे विशिष्ट कलाकार हैं। छोटे-छोटे वाक्यों वाली उनकी कलापूर्ण भाषाने लोगों को मोहित कर लिया। मनुष्य की व्यक्तिगत अनुभूतियों के वे अप्रतिम कथाकार हैं। जैनेन्द्र कहानी के स्थूल उपादानों से परे भाव, अनुभूति, मनःस्थिति या मनोवैज्ञानिक सत्य को ही व्यक्त करना चाहते हैं। यो उनकी कुछ कहानियाँ घटना-प्रधान भी हैं, और कुछ भाव एवं वातावरण प्रधान भी हैं किंतु उन्हें प्रधानता मनोवैज्ञानिक सत्य को ही दी है। ‘तत्सत्’ उनकी एक ऐसी ही कहानी है जिसमें पेड़-पौधों के माध्यम से जैनेन्द्र कुमार जी ने मानव जीवन के प्रसंगों पर बारीकी से प्रकाश डाला है और कई सच को उद्घाटित किया है।

कहानी की शुरुआत एक गहन वन में शिकार की खोज में घूम रहे दो शिकारियों के आपसी बातचीत से होती है। जिसमें शिकारी उस जंगल को भयानक और घना बताते हैं। उनके जाने के पश्चात पास के **शीशम का पेड़** बड़ दादा से पूछता है कि उसकी छाँह में बैठे ये कौन थे

जो जंगल की बात कर रहे थे। बड़ दादा कहते हैं कि वे आदमी कहलाते हैं इनमें पत्ते नहीं होते, केवल तना होता है और तने की दो शाखाओं पर वे चलते जाते हैं। इतने में काँटेदार बबूल भी बड़ दादा से पूछ बैठते हैं कि, - “किसी वन को भी देखा है? ये आदमी किसी भयानक वन की बात कर रहे थे। तुमने उस भयावने वन को नहीं देखा है?” बड़ दादा ने भी किसी भयावने वन को नहीं देखा है इसलिए बता नहीं पाते। इसी तरह वन की पड़ताल करते हुए सभी में बातें होने लगती हैं, लेकिन को उनमें से कभी किसी ने देखा नहीं है। साल, सेंमर, सिरस भी उस बातचीत में हिस्सा लेने लगते हैं। बाँस से वन के संबंध में पूछने पर वह बड़ दादा को बताता है कि- ‘हर घड़ी सुनता हूँ कि वन है, वन है। पर मैं उसे जानता नहीं हूँ।’ फिर बड़ दादा की सलाह से सब घास से वन के बारे में पूछते हैं पर वह भी वन को नहीं जानती और अब सबका ध्यान सिंह की ओर जाता है लेकिन पशुराज सिंह ने भी उसे नहीं देखा होता। तत्पश्चात् बड़ दादा को लगता है कि आदमी हम सभी से ज़्यादा जानकारी रखते हैं जिसपर सिंह आदमी को चालाक जीव कहता है और यह भी बताता है- “उसका भरोसा नहीं करना चाहिए। उसकी बात-बात में धोखा है।” चमकीले देह के नागराज से भी यही प्रश्न किया जाता है वह भी वन को बनावटी एवं सतही बताकर आगे बढ़ जाता है। सभी जीव जंतु, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी वन की पूछताछ आपस में करते हैं और खूब चर्चा करते हैं। अंत में वे निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि दो टाँगोवाला आदमी ईमानदार जीव नहीं है। उसने वन का भ्रम पैदा किया है। वास्तव में वन कुछ है नहीं।

एक दिन फिर शिकारी वहाँ आ पहुँचते हैं। उनके आते ही सारा जंगल जाग उठता है और सब शिकारियों का अपने तरीके से विरोध करते हैं। सभी को शांत करा बड़ दादा उन दोनों शिकारियों से जंगल के बारे में पूछते हैं। दोनों बंदूके नीचे करते हैं व कहते हैं कि- “यह जंगल ही तो है, जहाँ हम सब हैं।” इस पर सभी के मन में अनेकों सवाल आते हैं कि सेमर, सिरस, साल, घास, सिंहराज, पानी, धरती, शीशम, बबूल आदि सभी हम नहीं होकर जंगल कैसे हो सकते हैं? परिस्थिति को देखते हुए अपनी सूझबूझ द्वारा दोनों शिकारी बड़ दादा से बातचीत करते हैं तथा उनमें से एक बड़ दादा के वृक्ष पर चढ़ जाता है और सबसे ऊपर की फुनगी तक पहुँच जाता है। नये पत्तों की जोड़ी को कोई मंत्ररूप संदेश देने भी भाँति पुचकारता है। पत्तों में चैतन्य भर जाता है, लालिमा छा जाती है वे चमकने लगते हैं जैसे उन्होंने खंड को कुल में देख लिया। देख लिया कि कुल है, खंड कहाँ है। फिर वह आदमी नीचे उतर जाता है। बड़ दादा जिन्हें प्रश्न का उत्तर प्राप्त हो चुका था है सभी को कहते हैं कि-वन है, वन है. . . . सब कहीं है, सब कहीं है. . . .हम नहीं, वह है।

तत्सत् : उद्देश्य :

जैनेन्द्र मूलतः अंतर्दृष्टिसंपन्न लेखक हैं। वे शब्दों से परे, उससे ध्वनित होते हुए तत्त्वार्थ तक जाकर अपने विचारों को एक नया आयाम देते हैं। इसीलिए जब भी वे किसी तथ्य, दर्शन को अंकित करते हैं तो सतही वास्तविकता से परे उस तथ्य, दर्शन के निगूढ़ वैशिष्ट्य तक पहुँचने का प्रयास करते हैं। प्रारंभ से ही वे अंतर्मुखी प्रवृत्ति को लेकर चलनेवाले कलाकार रहें हैं। ‘तत्सत्’ जैनेन्द्र की एक ऐसी ही कहानी है जिसमें उनकी छवि शुद्ध मनोवैज्ञानिक कहानीकार की ही नहीं रह जाती अपितु उनमें अध्यात्म, दर्शन और मानवीय करुणा के तत्व भी समाविष्ट हो जाते हैं। यह कहानी उनकी दर्शनिक मनोवृत्ति का ही परिचायक है। इसी शाश्वत सत्य को रेखांकित करते हुए जैनेन्द्र ने ‘तत्’ (अक्षरब्रह्म) एवं ‘सत्’ (पूर्णाक्षर ब्रह्म) के परस्पर संबंध एवं अंतर को स्पष्ट किया; नामकरण का आधार भी यही ‘तत्सत् भाव’ है।

कहानी में मुख्य चिंता का विषय है-वन के पेड़, पौधों, पशु, पक्षियों द्वारा ही 'वन' की खोज करना। वे नहीं जानते कि 'वन' क्या है? वन के पेड़, पौधे, पशु, पक्षी सभी अपने अपने तरीके से उसके होने और न होने की परिभाषिक करते हैं यद्यपि वन वे ही हैं और वे वन में ही हैं। वन उनसे भिन्न नहीं है और वे वन से भिन्न नहीं है किंतु इस अभेदात्मक रहस्य के प्रति वे अनजान हैं। वन एवं वन के पेड़ - पौधों, पशु-पक्षियों के माध्यम से कहानी कार ने खंड-कुल, आत्मा-परमात्मा, मूर्त-अमूर्त के अभेद का प्रस्तुतीकरण किया है। कहानी में अनेक प्रतीकों एवं संकेतों के माध्यम से इस रहस्य को सुलझाते हैं।

जैनेन्द्र ने मनोवैज्ञानिक तरीके से अध्यात्म एवं उस सूक्ष्म दर्शन को प्रस्तुत किया है, जो लौकिक जीवन में सहज रूप से समझ पाना आसान नहीं होता परंतु उसकी नितांत उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। भौतिक धरातल से ऊपर उठाकर ही तात्विक, दार्शनिक धरातल पर इस शाश्वत सत्य को समझा जा सकता है। कहानी का उद्देश्य वन एवं वन के घटक (पेड़, पौधे, पशु, पक्षी) के बीच अद्वैतता का चित्रण है। जैनेन्द्र इसी का चित्रण करते हुए इस रहस्य के भीतर उतर जाते हैं यहीं रहस्य जीवन के (कई विविध पक्षों के सत्य को उजागर करता है, जो आत्म-पर, स्थूल-सूक्ष्म, समाज-व्यक्ति, मूर्त-अमूर्त आदि संज्ञाओं से जान जाता है। वन के घटकों का यह प्रश्न कि सेमर, सिरस, साल, घास, सिंहराज, पानी, धरती, शीशम, बबूल आदि सभी हम नहीं होकर जंगल कैसे हो सकते हैं। बबूल कहता भी है कि- "क्या कहा? मैं जंगल हूँ? तब बबूल कौन है?" लेखक के अनुसार व्यक्ति खंड रूप में ही अपने आप को जानता है, लेकिन ऐसे अनेक खंड किसी अखंड अमूर्त सत्ता को सार्थकता प्रदान करते हैं। यह कदाचित वह नहीं जान पाता, लेखक इसी ज्ञान से उसका परिचय कराते हैं। इसे कई उदाहरणों द्वारा समझाया है- कुल और खंड की यह व्यवस्था समाज और व्यक्ति पर भी खरी उतरती है जहाँ व्यक्ति समाज में सर्वत्र है, किंतु वह अकेला समाज नहीं हो सकता। दर्शनिकता एवं आध्यात्मिकता के इसी रहस्य को समझाने के लिए कबीर आदि संतों ने रहस्यवाद का सहारा लिया था, जहाँ उन्होंने आत्मा-परमात्मा के शाश्वत सत्य को भी खंड-कुल के द्वारा समझाया था। नए पत्तों की जोड़ी को संदेश रूप में ज्ञान प्राप्त होते ही उनमें चैतन्य का संचार होता है, लालिमा छा जाती है, वे चमकने लगते हैं मानों उन्होंने खंड को कुल में देख लिया। यहाँ कहानीकार ने 'अहम ब्रह्मस्मै' वाली अनुभूति को ही चित्रित किया है, जहाँ पत्तों को यह पता चलता है कि वे 'कुल' के ही 'खंड' और 'खंड' कुल से भिन्न नहीं है।

बड़ दादा का चित्र जिन्हें गंभीर, अनुभवी एवं गहन चिंतक के रूप में कहानी में उभारा गया है, उन्हें इस शाश्वत 'तत्सत भाव' का ज्ञान सबसे पहले होता है और फिर एक गुरु, मार्गदर्शक की भांति वे समाधि धारण कर अपनी निजी सत्ता को 'खंड' बताते हैं और अपने 'कुल' अर्थात् 'वन' को सर्वव्यापी बताते हैं, कहते हैं कि 'हर कहीं हैं'। इसी प्रकार वन व वन के वृक्षों एवं पशुओं के माध्यम से कहानीकार ने मानव और ईश्वर के अभेद का भी निदर्शन किया है।

इस प्रकार जैनेन्द्र कुछ कुछ रहस्य की सृष्टि करके वे एक प्रकार का आकर्षण उत्पन्न कर देते हैं और कई सच को उद्घाटित करते हैं।

५. 'जूते' और 'ऊंचाई'

'जूते' कहानी : कथासार

मार्कण्डेय प्रगतिशील चेतना के प्रखर पक्षधर और ग्रामीण चेतना के सशक्त रचनाकार हैं। उन्होंने नयी ग्रामीण जीवन-व्यवस्था तथा उससे उत्पन्न मानसिकता के प्रति अपनी तीखी आलोचनात्मक दृष्टि का परिचय दिया है। भारतीय समाज, दर्शन, इतिहास और राजनीति के गंभीर अध्येता होने के कारण ही साहित्य और जीवन दोनों ही क्षेत्रों में वे एक सघन मार्क्सवादी हैं। साहित्य के क्षेत्र में यही दृष्टिकोण उन्हें एक प्रगतिशील लेखक का दर्जा प्रदान करता है। उनकी कहानियाँ सामाजिक विषमता और विसंगति के चित्रण तक ही सीमित नहीं हैं, अपितु बेहतर समाज के निर्माण के लिए क्रांतिकारी बदलावों में भी विश्वास रखती हैं। यथास्थितिवाद के समर्थकों का खुलकर विरोध करनेवालों तथा जनवादी कहानी परंपरा को समृद्ध और विकसित करनेवालों में मार्कण्डेय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मार्कण्डेय की कहानी 'जूते' उनकी एक ऐसी कहानी है जो मानवीय संवेदना के विविध आयामों को स्पर्श करती है जिसपर हिंदी कहानी में बहुत कम चर्चा हुई है।

मनोहर एक छोटा गरीब बालक है जो ठाकुर साहब के यहाँ काम करता है, कहानी उसी पर केंद्रित है। ठाकुरसाहब एवं उनकी पत्नी बड़ी मालकीन की बहू अपनी बच्ची के साथ दिल्ली से आयी हैं। मनोहर बहू की बच्ची का ध्यान रखता है जो उससे उम्र में थोड़ी ही छोटी है। नयी बहू के आने से वह बहुत ही प्रभावित है-खासकर उसके कपड़े-लत्ते एवं बोलचाल से। उससे भी ज्यादा वह नयी बहू की बच्ची के लाल जूतों से प्रभावित है। उसे वह जूते नहीं लगते। उसकी परिकल्पना के आधार पर वे जूते ही नहीं सकते बल्कि इतने सुंदर, चिकने, मुलायम केवल खिलौने ही हो सकते हैं। इतना ही नहीं नयी बहू का जूता भी बच्ची के जूतों की तरह लाल है। गाँव की मेहरिया से उसने सुना था कि जितने दाम का उनका जूता है, बड़े-बड़े सरदारों की पगड़ी भी उतनी महँगी नहीं। बहू के मासूम, गुलाबी पैरों पर बँधे सैंडिल के फीते उसके दिमाग पर छा जाते हैं। वह उसे उलट-पुलट कर देखता है, परेशान हो जाता है। वह उसे पहनकर देखना चाहता है पर बड़ी मालकीन के तमाचे और ठाकुर की कनैठी से डरता भी है। नयी बहू कहती है कि-"तेरे पैर में नहीं अटेगा मनोहर!" वह उदास होकर जूतों को देखता रह जाता है। जेठ की रुपहली चाँदनी में वह नयी बहू और बच्ची के साथ टहलने जाता है। रास्ते पर धूल की मोटी गद्दे जैसी परत जमी होती है। दिन में इसी रास्ते से वह आया था, तब यह धूल कड़ाह के तेल जैसी जल रही थी और उसे पलास के पत्ते पैर में बाँधने पड़ते हैं। परंतु अभी यह धूल सुहावनी सीत में बदल गयी है। उसके साथ चल रही बच्ची धूल में पैर धँसने पर लुढ़क जाती है। वह देखता है कि धूल के कारण बच्ची के कपड़े और जूते मैले हो गए हैं। वह अँगोछे के एक छोर से उसे साफ़ करता है; वह यह भी ध्यान नहीं देता कि उसके अपने कपड़े भी धूल में सने जा रहे हैं। फिर भी वह बार-बार जूते को सहलाता है जैसे उसे चोट लगी हो, साफ़ करता है, मुँह से फूँकता है। बहू के कहने पर वह अपने कपड़े झाड़ता है और तीनों घर लौट आते हैं। थकान के कारण बच्ची अपनी आँखें झपकाती है। नयी बहू मनोहर को खाना खाकर, बच्ची के जूते उतारकर उसी के पास नीचे सो जाने को कह कर चली जाती है। मनोहर बाकी सब भूलकर जूते की कल्पना से प्रसन्न हो जाता है। वह नज़ाकत से जूते खोलने का प्रयास करता है पर नहीं खोल पाता और जूतों के सपने देखते हुए सो जाता है, भोजन करना भी भूल जाता है। सुबह बहू उसे देखकर मुग्ध रह जाती है कि बच्ची एवं जूतों के फेर में वह खाना भी नहीं खाया।

बहू उसे उठाकर खाना खाने के लिए कहती है। खाना खाकर आता है तब बहू से पता चलता है कि वह कल ही दिल्ली जा रहीं है। वह सोच में पड़ जाता है।

दाई से बच्ची के कपड़े बदलवाकर वह सोचता है कि आज जूते पहनाकर ही रहेगा। अपना कुर्ता ज़मीन पर बिछाकर उसपर जूतों को रखकर बड़े चतुर व्यक्ति की भाँति जूते पहनाने लगता है पर पहना नहीं पाता। कुर्ते को ज़मीन पर बिछा देख नयी बहू उसपर बिगड़ती है, उसे खाना खिलाती है। रोटियाँ निगलते हुए सोचता जाता है कि- “बहू जी कल सुबह चली जाएँगी, और बच्ची भी और उसका जूता भी।” रात को जब वह सोता है तो उसके मन में यही खयाल आता है कि- ‘यदि रात भर में मैं बड़ा हो जाता, तो बहूजी के साथ ही कल दिल्ली चला जाता और पैसे’ कमाकर अपने लिए लाल-लाल जूते खरीदता।’ उसे नींद नहीं आती व जूतों की तरफ देखकर वह सोचने लगता है - ‘कितने सुंदर हैं ये! लेकिन कल से ये मुझे सपने हो जाएँगे।’ बहू जग रही थी वह कभी बच्ची, कभी मनोहर तो कभी जूतों को देखती। सुबह बहू मनोहर को जूतों पर हाथ टिकाए सोता हुआ देखती हैं, तो उनकी आँखें भर आती है। गाड़ी के समय का ध्यान वह मनोहर को उठकर तैयार होने के लिए कहती है। नयी बहू उसे टिफिन कैरियर में पूरियाँ रखने के लिए भेज देती है, इस बार भी वह जूते पहनाते हुए बच्ची को नहीं देख पाता।

रास्ते में जाते समय बड़े-बड़े पलास के पत्तों को देखता जाता हैं, क्योंकि आते समय जलती गर्द होगी, उसका पैर फिर जलेगा। लेकिन लौटते समय ऐसा कुछ नहीं होता क्योंकि उसके बगल में एक कागज के डिब्बे में लाल-लाल जूते, जो बहू ने दिए थे। इस प्रकार जूतों के मोह में रास्ते की सारी तपन को वह भूल जाता है।

जूते : उद्देश्य / मूल संवेदना

‘जूते’ कहानी मार्कण्डेय की एक ऐसी कहानी है जिसकी मूल संवेदना अभावग्रस्त बालकों पर केंद्रित हैं जो बचपन में खेलने-कूदने की उम्र से ही काम करने के लिए विवश हैं। बालमनोविज्ञान का भी इस कहानी पर प्रभाव देखा जा सकता हैं जहाँ बालसुलभ भावनाओं को प्रश्रय मिला है – वह भी ‘मनोहर’ के माध्यम से। वह एक अभावग्रस्त बालक है तथा ठाकुर साहब एवं बड़ी मालकिन के यहाँ काम करने के लिए बाध्य है। अपनी उम्र से थोड़ी ही छोटी नयी बहू की बच्ची की वह देखरेख करता है। कहानी में लेखक ने बच्ची के लाल-लाल जूतों के द्वारा मनोहर के मन में उठ रहे अनेक प्रकार की संवेदनाओं को जन्म दिया है। अपने जीवन में ऐसे जूतों को उसने कभी नहीं देखा था - ‘यह तो जूते नहीं हो सकते और चाहे कुछ भी हों।’ क्योंकि इतने सुंदर, चिकने, मुलायम जूते उसकी परिकल्पना के बाहर है। मनोहर के अनुसार उसे खिलौने होने चाहिए क्योंकि उसमें नाल, कीलें तो हैं ही नहीं और ना ही उसका तल्ला मोटा है। आर्थिक विषमता के शिकार बच्चों को जब ऐसी चीजें दिखाई देती है तो उन चीजों को देखकर उनके मन में उत्पन्न होनेवाली आकांक्षाओं के चित्र को लेखक ने बड़े मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है।

बच्ची के जूते जब धूल में गंदे हो जाते हैं तब मनोहर उसे बड़ी आत्मीयता के साथ साफ़ करता है वह उसे गंदा नहीं होने देना चाहता। “मालकिन नाहक ही जूते लेकर गाँव आयी, क्या जानती नहीं थी कि यहाँ धूल माटी होती है? कोई पक्का मकान थोड़े ही है? और लेकर

आयीं भी, तो इन्हें कपड़ों के बक्सों में ही क्यों नहीं रखा?” उसकी यह सोच इस बात की ओर संकेत करती है कि वह जूतों के लिए कितना परेशान है। उसके लिए वह जूते ‘सपनों’ जैसे हैं इसीलिए वह लाल जूतों का इतना खयाल रखता है क्योंकि बच्ची के जाने के बाद शायद ही वह इस प्रकार के जूते पुनः देख पाए। नयी बहू के लिए वह सिर्फ जूते ही है, केवल पैरों में पहनेवाले जूते। तभी तो वह मनोहर को दिए कुर्ते पर लाल जूतों को रखा देखकर बिगड़ती है - “कल ही तो दिया है न रे, क्या हालत बना दी इसकी। कहीं जमीन पर बिछाने की चीज़ है यह?” मालकिन के दिए गए अपने कुर्ते से वह जूतों की तुलना करता है। उसे तब भी जूते कहीं ज़्यादा आकर्षक लगते हैं और सोचता भी है कि - “क्या इससे खराब हैं जूते?”

आर्थिक विषमता के कारण अभावग्रस्त जीवन व्यतीत कर रहे मनोहर जूतों के द्वारा सपने देखने लगता है कि कभी उसके पास भी ऐसे ही लाल-लाल जूते होंगे। लेखक ने मनोहर के द्वारा यहाँ यह बताने का प्रयास किया है कि - ऐसे बालकों के लिए ऐसी वस्तुएँ सपनों जैसी है और उन्हें पता भी है कि ये काफ़ी महँगे हैं मिल भी ना सके। नयी बहू के लिए वह केवल ‘जूते’ ही हैं जिसकी जगह धूल, कीचड़, कंकड़ में है, लेकिन मनोहर के लिए वह जूते ‘सपने’ है जिसे वह बारात जैसे किसी खास प्रयोजन के लिए है या फिर कपड़ों के बक्सों में जतन से रखने के लिए।

तपती धूप में मनोहर जब पलास की पत्तियों के जूते पहनता है तो उसे देखकर बड़ी मालकिन कहती हैं, कि- “शौकीन होता जा रहा है? बाप ने भी कभी जूतों का मुँह देखा था? अभी से तेरा पाँव जलने लगा!” अमानवीय दृष्टिकोण का परिचायक यह कथन जूता पहनने, तपती धूप से बचने को ‘शौकीन’ बनने की संज्ञा देता है। संपन्न वर्ग यह नहीं समझ पाता कि साधारण जरूरतों को भी ये अभावग्रस्त पूरा नहीं कर पाते। शायद यही कारण है कि मनोहर के पैरों की जलन मालकिन महसूस नहीं कर सकती और पलास की पत्तियों के जूते पहनने को वह ‘शौकीन बनने’ के नज़रिए से ही देख पाती हैं। लेकिन नयी बहू जो मनोहर को मुग्ध भाव से जूतों के प्रति उसके आकर्षण को जान जाती है उसे वैसे ही लाल-लाल जूते देकर उसके सपने को सच कर देती हैं।

इस प्रकार, मनोहर के माध्यम से मार्कण्डेय ने कहानी में अभावग्रस्त जीवन व्यतीत कर रहे बच्चों, उनकी मनःस्थितियों और उनके मनोभावों का मार्मिक चित्रण किया है।

ऊँचाई : कथासार

मन्नू भंडारी को नयी कहानी के दौर में उनकी कहानियों के प्रकाशन के साथ ही विशेष ख्याति मिली थी। उन्होंने अपनी कहानियों में बदले हुए परिवेश में संस्कार और आधुनिकता के बीच उलझे हुए नारी मन के द्वंद्व को बड़ी ईमानदारी से चित्रित किया है। वस्तुतः मन्नू भंडारी ने भावुकता से हटकर बदले हुए जीवन संदर्भ में खुले दिमाग से नारी-जीवन की वास्तविकता को देखा-परखा है और उसे बड़ी सादगी के साथ व्यक्त किया है। उन्होंने अपनी रचनाओं के जरिए आधुनिक स्त्री को घर की चहारदीवारी से निकालकर कर्म-क्षेत्र में ला खड़ा किया जहाँ परिस्थितियों का दबाव और मुक्ति का उल्लास दोनों था। शिक्षा और सामाजिक विकास के कारण स्त्री के जीवन में आए नये भावबोध को उन्होंने अत्यंत सूक्ष्म दृष्टि से अंकित किया है। ‘ऊँचाई’ मन्नू भंडारी की एक ऐसी ही कहानी है जिसमें शिवानी के अंतर्द्वंद्व को चित्रित किया गया है।

‘ऊँचाई’ कहानी की नायिका शिवानी है, जो अपने आठ साल के विवाहित जीवन से खुश है। शिवानी का पति शिशिर एक गंभीर, आधुनिक सोच एवं उदार दृष्टिकोणवाला व्यक्ति है। शिवानी अपने बेटे प्रिटी के साथ घुमने के उद्देश्य से घर से बाहर रुकी है-एक होटल में। किसी कारणवश शिशिर उसके साथ नहीं आ पाता। उसकी मुलाकात अचानक अतुल से हो जाती है जिससे वह ग्यारह वर्षों के लंबे अंतराल के बाद मिलती है। अतुल एवं शिवानी दोनों ग्यारह वर्ष पहले अंतरंग संबंधों में बँधे हुए थे। दोनों एक-दूसरे का भलीभाँति समझते थे। उन दिनों अतुल राजनीतिक क्षेत्र में था। एक दिन बिना कुछ बताए वह चला जाता है तथा दो वर्षों तक शिवानी की खबर तक नहीं लेता। इसी दरम्यान शिवानी का विवाह शिशिर से हो जाता है, अब वह उसके दो बच्चों की माँ है।

अतुल से इस तरह अचानक मिलने पर वह खुश भी होती है, वह अपने होटल में चाय के लिए आमंत्रित करती है। ग्यारह साल के पहले के अनुभवों पर दोनों एक बार फिर चर्चा करते हैं। शिवानी उसे कलकत्ता आकर शिशिर से मिलने के लिए कहती है पर वह यह आमंत्रण स्वीकार नहीं करता। लेकिन शिवानी प्रिटी के साथ इलाहाबाद आकर उसके यहाँ रुकने का वायदा अवश्य करती है। शिवानी इस आकस्मिक मुलाकात के संयोग से काफी प्रभावित होती है। अनुल के एकाकी जीवन के प्रति अपने मन में हल्के से दर्द का एहसास भी वह महसूस करती है, कहीं-न-कहीं संतोष का भी।

अपने वायदे के अनुसार वह अपने बेटे प्रिटी के साथ इलाहाबाद पहुँचती है। अतुल के स्वागत-सत्कार से वह भीतर तक भीग उठती है। प्रिटी के साथ पुत्रवत् स्नेह करना उसके लिए ढेरों खिलौने ले आना उसे द्रवित कर देता है। अतुल के अविवाहित एवं एकाकी जीवन के प्रति वह कहीं-न-कहीं अपने आपको बीच में पाती है हालांकि वह जानती है कि इसमें उसकी कोई गलती नहीं है और ना वह इसकी जिम्मेदार है। क्योंकि अतुल बिना बताए उसे छोड़कर चला जाता है एवं दो वर्षों तक उसकी कोई खबर भी नहीं लेता। वह व्यंग्य भी करती है- “जो व्यक्ति स्वेच्छा से अपनी वस्तु को छोड़कर दो साल तक उसकी कोई खबर भी नहीं ले, उसे ईर्ष्या या शिकायत करने का कोई अधिकार नहीं है।” फिर भी वह अतुल के एकाकीपन में स्वयं को पाती है। वह उसके जीवन के इस पैटर्न से खुश नहीं होती जहाँ अतुल के पास सजा-सजाया घर है, लेक्चरशिप की अच्छी नौकरी है, निश्चित जीवनक्रम भी है परंतु इन सबसे होते हुए भी कोई जीवनसंगिनी नहीं है। वह अतुल का शादी करके अपने जीवन में आगे बढ़ने की बात करती है पर अतुल अपने आपको किसी से जोड़ नहीं पा रहा, यह भी वह बखूबी समझती है। उसके बाद रात को गाड़ी में बैठने तक दोनों में कोई बात नहीं होती। बहुत ही अनमने मन से वह वहाँ से विदा लेती है और चली आती है।

तीसरे दिन रात को बिना किसी प्रकार की सूचना दिए वह अतुल के क्वार्टर पर जाती है तथा वह अनुल के मना करने पर भी वहीं रुककर उसके साथ समय बिताती है। शिशिर का अतुल के भेजे गए पत्र से वह पता चलता है कि शिवानी अतुल के घर गई थी तथा दोनों में शारीरिक संबंध भी स्थापित हुए थे। वह बहुत दुखी होता है तथा घर छोड़कर चला जाता है। शिवानी का परपुरुष के साथ अनैतिक संबंध बनाने से भी ज़्यादा दुख उसे शिवानी के उस रवैये से होता है जिसमें ना किसी प्रकार के अपराध बोध और ना ही किसी भी तरह की भावुक असहजता उत्पन्न होती है। आवेश में वह कहता भी है – “किस आधार पर अविश्वास करूँ, कौन-सा कारण है जो विश्वास न करूँ – तुम अपना शरीर तक एक पुरुष को दे आई और कैसे

इतनी बड़ी बात को पचाकर बड़े स्वाभाविक ढंग से चल पड़ी।” वह चाहता है कि शिवानी अपनी गलती स्वीकार करे एवं उसे उसके किए का पश्चात्ताप हो, परंतु ऐसा कुछ नहीं होता। शिवानी को वह घटना सहज एवं स्वाभाविक लगती है जिस पर उसे पश्चात्ताप करने जैसी कोई भावना निर्मित करनी पड़े – “. . . नहीं तो क्या मैं नहीं जानती कि यदि एक बार भी मैं पश्चात्ताप के दो शब्द कह दूँ, तो तुम्हारे मन का सारा मलाल दूर हो जाए, सारा क्रोध बह जाए। पर जो चीज़ मैं महसूस नहीं करती, उसे झूठ बोलकर तुम्हारे सामने स्वीकारा नहीं जाता।” शिशिर शिवानी पर बहुत विश्वास करता है परंतु इस घटना से वह बहुत ही निराश होता है।

पंद्रह दिन पश्चात् वह पुनः शिवानी से राजगिरि मिलने के लिए कहता है, क्योंकि वह समझता है कि – “जिस तरह विवाह के लिए दोनों की उपस्थिति अनिवार्य है, वैसे ही विच्छेद के समय भी दोनों को ही उपस्थित रहना चाहिए।” दोनों राजगिरी में मिलते हैं, अतुल के साथ के संबंध पर बातें करते हैं। शिवानी अपने आपको सही साबित करने के लिए किसी प्रकार के स्वांग को जन्म नहीं देती। शिशिर के मन की सारी कटुता एवं सारा ज़हर शिवानी पर संवादों के रूप में निकलता है। लेकिन शिवानी उसपर ना कोई आँसू बहाती है, ना ही कमज़ोर होकर कटे पेड़ की भाँति शिशिर की बाँहों में गिरती है, जैसा कि शिशिर चाहता है कि वह आत्मग्लानि करे। इससे शिशिर के अहं को ठेस लगती है, जिसकी अभिव्यक्ति वह इन शब्दों में करता है कि- “मैं अभी तक समझे था, तुम मेरी हो, केवल मेरी और मेरे सिवाय किसी की हो ही नहीं सकती हो।” शिवानी भी उसे आश्चर्य करती है और कहती है कि “मन की जिस ऊँचाई पर तुम्हें बिठा रखा है, वहाँ कोई नहीं आ सकता। किसी से तुलना करने में भी तुम्हारा अपमान होता है।” दोनों में सुलह हो जाती है। धीरे-धीरे दोनों लौट आते हैं तथा गर्म पानी के कुंड पर जाकर अपनी थकान को दूर करते हैं। कहानी में मन्नूजी ने शिवानी के माध्यम से स्त्रियों की निजता एवं मुक्ति की परिधि का विस्तार किया है, जिसे तार्किक आधार पर यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

ऊँचाई : मूल संवेदना :

शिक्षा एवं सामाजिक विकास के कारण स्त्री जीवन में काफ़ी परिवर्तन हुए है। नए भावबोध ने स्त्रियों की भावुक मानसिकता, उसकी सोच एवं संस्कारों का बहुत प्रभावित किया है तथा उनमें आधुनिकता बोध, व्यावहारिक दृष्टिकोण का संचार भी किया है। संस्कार एवं आधुनिकता के संक्रमण की पाटियों में पिस रही आधुनिक स्त्री परिस्थितियों के दबाव और मुक्ति के उल्लास के द्वंद्व को झेल रही है। ‘ऊँचाई’ कहानी में शिवानी एक ऐसी ही आधुनिक नारी है, जो इस तरह के द्वंद्व से गुजरती है। कथानायिका शिवानी की आकस्मित भेंट उसके मित्र अतुल से होती है जिसके साथ ग्यारह वर्ष पूर्व उसके अंतरंग संबंध थे। वह शिवानी का छोड़कर चला जाता है तथा दो वर्षों तक उसकी कोई खबर तक नहीं लेता। इस दरम्यान शिवानी की शिशिर से शादी हो जाती है किंतु अतुल अब तक एकाकी जीवन व्यतीत कर रहा है। इससे शिवानी दुखी भी होती है। अतुल के जीवन को नयी दिशा मिले इस उद्देश्य से शिवानी स्वयं को समर्पित कर देती है। कहानी में शिवानी का अंतर्द्वंद्व भी यहीं से शुरू होता है, जब अतुल के पत्र से शिशिर को इस बात का पता चलता है और वह घर छोड़कर चला जाता है।

मन्नू जी ने शिवानी के माध्यम से आधुनिक नारी को ‘व्यवहारिक’ रूप में यहाँ चित्रित किया है। प्रैक्टिकल अपरोच रखनेवाली शिवानी जहाँ अतुल के प्रति ग्यारह वर्ष पहले समर्पित थी। वह बाद में शिशिर से विवाह करके जीवन में आगे बढ़ जाती है तो अतुल आज तक अपने

को किसी अन्य से जोड़ नहीं पाता। विवाह में आस्था रखनेवाली शिवानी अतुल को भी विवाह करके जीवन में आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है। विवाह को लेकर उसके विचार हैं कि- ". यह संबंध इतना ज़्यादा पवित्र है कि सारे संसार की अपवित्रता भी इसमें आकर पवित्र हो जाती है।" मन्नूजी ने इस बात को भी सामने रखा है कि दैहिक संबंधों से कहीं ज़्यादा आवश्यक आत्मिक संबंध होते हैं। वैवाहिक जीवन की सफलता के मापदंड एवं मूल्यांकन केवल शारीरिक संबंधों द्वारा विवाह का मूल्यांकन शिवानी के लिए एक संकीर्ण मानसिकता है। वह एक ऐसी नारी का प्रतिनिधित्व करती है जहाँ अपने निर्णयों में किसी का भी हस्तक्षेप पसंद नहीं। उसे जो अच्छा लगता है वही करना चाहती है। उसे जो अच्छा लगता है वही करना चाहती है। अतुल से वह कहती भी है- "उचित-अनुचित का मेरा अपना भी विवेक है और मुझे उसके अनुसार ही चलने दो। अपना विवेक तुम अपने छात्रों को ही बाँटने तक सीमित रखोगे तो ज़्यादा प्रसिद्धि मिलेगी।" शिशिर को अपने किए पर सफ़ाई देने का स्वांग करने की बजाय वह सहज ढंग से कहती है कि- "क्या मैं नहीं जानती कि यदि एक बार भी मैं पश्चात्ताप के दो शब्द कह दूँ, ता तुम्हारे मन का सारा मलाल दूर हो जाए, सारा क्रोध बह जाए। पर जो चीज़ मैं महसूस नहीं करती, उसे झूठ बोलकर तुम्हारे सामने स्वीकारा नहीं जाता।"

मन्नूजी ने शिवानी एवं शिशिर दोनों के दृष्टिकोण को आमने-सामने रखा है, उनके द्वंद्व को भी। हालांकि पर-पुरुष के स्पर्श मात्र से ही नारी अपवित्र हो जाती है, इस बात को प्रश्रय देनेवाली संकीर्ण मानसिकता भी दोनों में नहीं है। वास्तव में शिशिर के दुःख का कारण यह है, कि इतनी बड़ी बात के हो जाने पर भी शिवानी एकदम सहज कैसे है?, उसे आत्मग्लानि या संकोच की कोई भावना क्यों नहीं छू रही? जबकि शिवानी की सोच में- "शरीर देने के बाद औरत के लिए अस्वाभाविक हो जाना क्या अनिवाय ही है?" यह संबंधों के धरातल पर एक बहुत बड़ा प्रश्न उपस्थित करता है। शिशिर को यह बात अस्थिर किए हुए है, कि शिवानी के मन में उत्पन्न अतुल के प्रति यह दर्द आकर्षण ना बद जाए और अतुल भी शिवानी के मन में शिशिर के प्रति प्रेम और विश्वास की भावना से आहत होता है- "मैं जानता हूँ तुम्हारे पति बहुत उदार हैं, महान हैं. बड़े अनकन्बेशनल भी हैं, पर बार-बार उनकी उदारता की बात कहकर क्यों नाहक ही मुझे छोटेपन का अहसास करा रही हो?"

लेखिका ने एक और द्वंद्व का शिवानी के माध्यम से प्रस्तुत किया है वह है अतुल एवं शिशिर में से उसके लिए कौन ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है? किसके प्रति उसका दायित्व निर्वाह सही है? कहानी के अंत में शिवानी शिशिर के स्थान को अतुल से श्रेष्ठ बतलाती है, लेकिन अतुल को लेकर उसके मन में यह द्वंद्व बराबर बना हुआ दिखाई देता है। कहानी में उसके दो कथन हैं जहाँ पर यह दिखाई देता है। पहला जब वह अपने आप को अतुल को समर्पित करते हुए कहती है कि- "आदमी छोटा अपने मन के छोटेपन से होता है, दूसरे का बड़प्पन किसी को छोटा नहीं बनाता. . . . मेरे लिए जैसे शिशिर, वैसे ही तुम हो।" तो वहीं दूसरी तरफ शिशिर से यह कहना कि- ". . . . पति के रूप में तो मैं किसी की कल्पना भी नहीं कर सकती, अतुल की भी नहीं।" वह दोनों के ही जीवन को सुखी देखना चाहती है यही कारण है कि उसमें द्वंद्व बना ही रहता है। "मेरा कुछ भी मिटनेवाला नहीं है इसलिए दे रही हूँ" कहते हुए वह अपने आपको समर्पित कर देती है।

लेखिका ने शिशिर के व्यक्तित्व को भी बड़ी उदारता के साथ चित्रित किया है लेकिन उदार दृष्टिकोण होने के बावजूद शिवानी को लेकर वह बहुत संकीर्ण भी है। उसकी यह संकीर्णता शिवानी के प्रति उसके निश्चल प्रेम को प्रदर्शित करती है- “मैं तुम्हारे बिना रह भी नहीं सकता और किसी भी रूप में तुम्हें ज़रा-सा शेअर भी नहीं कर सकता हूँ।” वैवाहिक जीवन में कई गलतफ़हमियाँ ऐसे अवांछनीय ‘कारणों’ से अधिक उत्पन्न हो जाते हैं परंतु नतीजे ‘कारणों’ से अधिक ‘कारणों की परिस्थितियों’ द्वारा निर्धारित किए जाने चाहिए। लेखिका ने इसी ओर संकेत भी किया है- “इसका उत्तर बहुत कुछ उस परिस्थिति पर निर्भर करता है, जिसमें तुम उससे संबंध स्थापित करोगे।” परिस्थितिवश अतुल को समर्पित करने के बावजूद वह शिशिर से कहती है- “मन की जिस ऊँचाई पर तुम्हें बिठा रखा है वहाँ कोई नहीं आ सकता।”

इस प्रकार इस कहानी की मूल संवेदना स्त्री-पुरुष के आपसी संबंधों एवं स्त्रियों की निजता व मुक्ति पर केंद्रित है।

